आचार्यवर्य श्रीगुणभद्रस्वामिप्रणीत

आत्मानुशासन

(स्वर्गीय प० टोडरमलजी कृत भाषा वचनिका के भाषा परिवर्तन सहित)

सम्पादक एव भाषा परिवर्तनकर्त्ता

डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रकाशक

प्राच्य श्रमण भारती

मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

परमपूज्य सराकोद्धारक उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के स्वर्ण जन्मजयंती वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

पुण्यार्जक · श्री राकेश कुमार जैन
'अध्यक्ष', श्री दिगम्बर जैन समाज यमुना पार, दिल्ली (1200 प्रतियाँ)
श्री दिगम्बर जैन महिला मडल, मुरैना (म०प्र०) (500 प्रतियाँ)

प्रथम सस्करण . 2004, 1100 प्रतियाँ
द्वितीय सस्करण · 2007, 1700 प्रतियाँ

मूल्य · 200/- रुपये मात्र (पुनः प्रकाशन होगा।)

प्राप्ति स्थान :

- **श्रुत सवर्द्धन सस्थान**
प्रथम तल, 247 दिल्ली रोड,
मेरठ-250 002,
फोन : 0121-2533707, 2528704

- **प्राच्य श्रमण भारती**
12/ए निकट जैन मन्दिर
प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर- 251001 (उ०प्र०)

- **आचार्य शान्तिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रथमाला**
बुढाना (मुजफ्फरनगर)

- **सस्कृति सरक्षण सस्थान**
X/3349, गली न. 1, रघुवरपुरा न. 2,
शाति मौहल्ला, गाधी नगर, दिल्ली-110031
फोन : 011-22465078, 9312243845

आचार्य शान्तिसागर 'छाणी' और उनकी आचार्य परम्परा

बाल ब्रह्मचारी, प्रशान्त मूर्ति आचार्य 108 श्री शान्तिसागर जी महाराज 'छाणी'-(उत्तर)



जन्म तिथि	–	कार्तिक बदी एकादशी वि॰ स॰ - 1945 (सन् 1888)
जन्म स्थान	–	ग्राम-छाणी जिला - उदयपुर (राजस्थान)
जन्म नाम	–	श्री केवलदास जैन
पिता का नाम	–	श्री भागचन्द जैन
माता का नाम		श्रीमति माणिकबाई
क्षुल्लक दीक्षा	–	सन् 1922 (वि॰ स॰ 1979)
स्थान	–	गढी जिला-बाँसवाडा (राजस्थान)
मुनि दीक्षा	–	भाद्र शुक्ल 14 सवत् 1980 (23 सित॰ 1923)
स्थान	–	सागवाडा, जिला-डूगरपुर (राजस्थान)
आचार्य पद	–	सन् 1926 (वि॰ स॰ 1983)
स्थान	–	गिरिडीह (झारखण्ड)
समाधिमरण	–	ज्येष्ठबदी दशमी सन् 2001 (बुधवार 17 मई 1944)
स्थान	–	सागवाडा (राजस्थान)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री सूर्यसागर जी महाराज



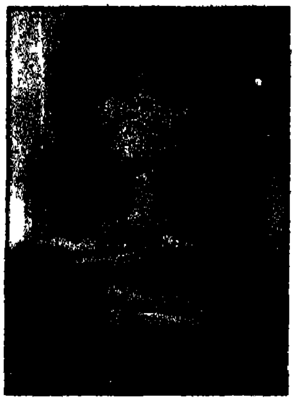
जन्म तिथि	–	कार्तिक शुक्ला नवमी वि॰ स॰ 1940 (8 नवम्बर 1883)
जन्म स्थान	-	प्रेमसर जिला – ग्वालियर (म॰प्र॰)
जन्म नाम	-	श्री हजारीमल पोरवाल
पिता का नाम	–	श्री हीरालाल जैन
माता का नाम	–	श्रीमति गेदाबाई
ऐलक दीक्षा	–	आसोज शुक्ल 6 वि॰ स॰ 1981 (सन् 1924) (आचार्य शान्तिसागरजी से)
स्थान	–	इन्दौर (मध्य प्रदेश)
मुनि दीक्षा	–	मार्गशीर्ष बदी 11 वि॰ स॰ 1981 (2-11-1924) आचार्य शान्तिसागरजी 'छाणी' से
स्थान	-	हाटपीपल्या जिला - देवास (म॰प्र॰)
आचार्य पद	–	कार्तिक शुक्ल नवमी वि॰ स॰ 1985 (सन् 1928)
स्थान	-	कोडरमा (झारखण्ड)
समाधिमरण	-	श्रावण कृष्णा 8 वि॰ स॰ 2009 (14 जुलाई 1952)
स्थान	–	डालमिया नगर (झारखण्ड)
साहित्य क्षेत्र मे	–	33 ग्रन्थो की रचना की।

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विजयसागरजी महाराज



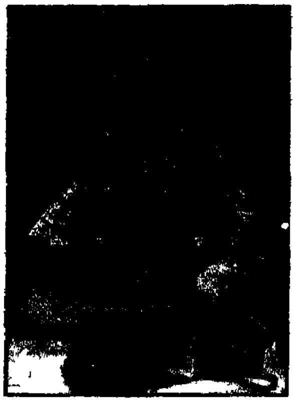
जन्म तिथि	–	माघ सुदी 8 वि॰ स॰ 1938 गुरुवार (सन् 1881 ई॰)
जन्म स्थान	–	सिराली जिला ग्वालियर (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	–	श्री चोखेलाल जैन
पिता का नाम	–	श्री मानिक चन्द जैन
माता का नाम	–	श्रीमती लक्ष्मी बाई
क्षुल्लक दीक्षा	–	इटावा (उत्तर प्रदेश)
ऐलक दीक्षा	–	मथुरा (उत्तर प्रदेश)
मुनि दीक्षा	–	मारोठ (जि॰ नागौर राजस्थान)(आचार्य श्री सूर्यसागर जी से)
आचार्य पद	–	लश्कर-ग्वालियर (म॰प्र॰)
समाधिमरण	–	20 दिसम्बर 1962 (सवत 2019)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विमलसागर जी महाराज (भिण्ड वाले)



जन्म तिथि – पौष शुक्ल द्वितीया वि॰ स॰ 1948 (1-1-1892)
जन्म स्थान – ग्राम मोहना जिला - ग्वालियर (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम – श्री किशोरीलाल जैन
पिता का नाम – श्री भीकमचन्द जैन
माता का नाम – श्रीमति मथुरा देवी जैन
क्षुल्लक दीक्षा - वि॰ सं॰ 1997 (सन् 1941)
आचार्य विजयसागरजी से
स्थान – ग्राम-पाटन जिला - झालावाड (राजस्थान)
मुनि दीक्षा - वि॰ सं॰ 2000 (सन् 1943) -
आचार्य विजयसागरजी से
स्थान – कोटा (राजस्थान)
आचार्य पद – सवत् 2030 (सन् 1973) स्थान- हाड़ोती
समाधिमरण – चैत्र शुक्ल एकादशी वि॰ स॰ 2030 (13 अप्रैल 1973)
स्थान – सांगोद जिला - कोटा (राजस्थान)

मासोपवासी, समाधि सम्राट परम पूज्य आचार्य 108 श्री सुमतिसागर जी महाराज



जन्मतिथि - आसोज शुक्ल चतुर्थी वि॰ स॰ 1974
(शनिवार 20 नवम्बर 1917)
जन्म स्थान – ग्राम - श्यामपुरा जिला मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम - श्री नत्थीलाल जैन
पिता का नाम – श्री छिद्दूलाल जैन
माता का नाम – श्रीमति चिरौंजा देवी जैन
ऐलक दीक्षा – चैत्र शुक्ल त्रयोदशी वि॰ स॰ 2025 (सन् 1968)
स्थान – रेवाडी (हरियाणा) आचार्य विमलसागरजी से
ऐलक नाम – श्री वीरसागरजी महाराज
मुनि दीक्षा - अगहन बदी द्वादशी वि॰ स॰ 2025 (रविवार 7 नवम्बर 1968)
स्थान – गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
आचार्य पद – ज्येष्ठ सुदी 5 वि॰ स॰ 2030 (13 अप्रैल सन् 1973)
स्थान – मुरैना (म॰प्र॰) आचार्य विमलसागरजी (भिण्ड वाले) महाराज
समाधिमरण – क्वार बदी त्रयादशी सवत् 2051 (3 अक्टूबर 1994)
स्थान – सोनागिरि सिद्धक्षेत्र जिला दतिया (मध्य प्रदेश)

सराकोद्धारक परम पूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज



जन्म तिथि – वैशाख शुक्ल द्वितीया वि॰ स॰ 2014 (1 मई 1957)
जन्म स्थान – मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम – श्री उमेश कुमार जैन
पिता का नाम – श्री शांतिलाल जैन
माता का नाम – श्रीमति अशर्फी देवी जैन
ब्रह्मचर्य व्रत – सवत् 2031 (सन 1974)
क्षुल्लक दीक्षा – सोनागिरिजी 5 11 1976 (सवत् 2033)
आचार्य सुमतिसागर जी से
क्षु॰ दीक्षोपरान्त नाम – क्षुल्लक 105 श्री गुणसागर जी महाराज
मुनि दीक्षा – सोनागिरिजी महावीर जयन्ती,
चैत्र सुदी त्रयोदशी संवत 2045 (31 3 1988)
मुनि दीक्षोपरान्त नाम – मुनि श्री 108 ज्ञानसागरजी महाराज
दीक्षा गुरु – आचार्य श्री सुमतिसागरजी महाराज
उपाध्याय पद स॰ 2046 30 जनवरी 1989 सरधना (मेरठ)

उमेश से उपाध्याय मुनि श्री 108 ज्ञानसागर सफरनामा एक अनेकान्तिक साधक का

एकान्त, एकाग्र और संयमी जीवन की विलक्षण मानवीय प्रतीति बन कर एक सकल्पशील साधक के रूप मे उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज जब लोक जीवन में अवतरित हुए तो यह धरती उद्भासित हो गयी उनकी तपस्या की प्रभा और त्याग की क्रान्ति से। त्याग, तितिक्षा और वैराग्य की सास्कृतिक धरोहर के धनी तीर्थंकरो की शृखला को पल्लवित और पुष्पित करती दिगम्बर मुनि परम्परा की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली कड़ी के रूप मे पूज्य उपाध्यायश्री ने अपने आभामण्डल से समग्र मानवीय चेतना को एक अभिनव सदृष्टि दी है और सवाद की नई वर्णमाला की रचना करते हुए उन मानवीय आख्यो की सस्थापना की है जिनमे एक तपस्वी के विवेक, एक योगी के सयम और युगचेतना की क्रान्तिदर्शी दृष्टि की त्रिवेणी का समवाय है। गुरुदेव की उपदेश-वाणी प्रत्येक मनुष्य को झकृत कर सकी है क्योकि वह अन्त-स्फूर्त है और है सहज तथा सामान्य, ऊहापोह से मुक्त, सहजग्राह्य और बोधगम्य जो मनुष्य को ज्ञान और पाण्डित्य के अहकार से मुक्त कर मानवीय सद्भाव का पर्याय बनाने मे सतत् प्रवृत्त है। यह वाणी वर्गोदय के विरुद्ध एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति है जहाँ सभी के विकास के पूर्ण अवसर हैं, बन्धनो से मुक्ति का आह्वान है, जीवन समभाव है, जाति-समभाव है जो निरन्तर दीपित हो रही है उनकी जनकल्याणी दीप्ति से।

चम्बल के पारदर्शी नीर और उसकी गहराई से मुरैना में वि० स० 2014 वैशाख सुदी दोयज सन् 1957 को जन्मे बालक उमेश को पिच्छि-कमण्डलु की मैत्री के साथ अपने बचपन से उस बुनियाद को मजबूत कराया जिसने उसे निवृत्ति-मार्ग का सहज, पर समर्पित पथिक बना दिया। शहर मे आने वाले हर साधु-साध्वी के प्रति बचपन से विकसित हुए अनुराग ने माता अशर्फी बाई और पिता शान्तिलाल को तो हर पल सशकित किया पर बालक उमेश का आध्यात्मिक अनुराग प्रतिक्षण, पल्लवित एव पुष्पित होता गया और इसकी परिणति हुई सन् 1974 मे उस प्रतीक्षित फैसले से, जब किशोर उमेश ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को अकीकार किया एवं दो वर्ष पश्चात्, 5 नवम्बर 1976 को सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी मे ब्रह्मचारी उमेश ने क्षुल्लक दीक्षा, आचार्य श्री सुमतिसागर जी से ग्रहण की। उमेश से रूपान्तरित हुए क्षुल्लक गुणसागर ने बारह वर्षों तक प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, प० लक्ष्मीकात जी झा, प० बलभद्र जी पाठक, प० जीवनलाल जी अग्रिहोत्री आदि विद्वानो की सन्निधि मे न्याय, व्याकरण एव सिद्धात के अनेक ग्रन्थो का भी सफलतापूर्वक अध्ययन किया।

क्षुल्लक गुणसागर जी की साधना यात्रा ललितपुर, सागर तथा जबलपुर मे इस युग के महान पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी की पावन सन्निधि के मध्य धवला की तत्त्व सम्पदा के सागर मे अवगाहन करने मे समर्पित हुई। दार्शनिक अवधारणाओ की पौर्वात्य पृष्ठभूमि की गहरी समझ के साथ-साथ क्षुल्लक जी ने पाश्चात्य चिन्तको के विचारो को भी आत्मसात् किया एव भाषा तथा साहित्य के ग्रन्थो का भी अध्ययन किया ताकि अपने चिन्तन का नवनीत जनमानस के सम्मुख

आसान और बोधगम्य भाषा मे वस्तुपरकता के साथ पहुँचाया जा सके। क्षुल्लक जी का निस्पृही, विद्यानुरागी मन जैन दर्शन के गूढ़ रहस्यो के सन्धान मे रत रहा और प्रारम्भ हुआ सवाद का एक नया चरण। चाहे चदेरी की सिद्धांत-वाचना हो या ललितपुर की न्याय-विद्या-वाचना या मुगावली की विद्वत्सगोष्ठी या फिर खनियांधाना की सिद्धात-वाचना, प्राचीन अवधारणाओ के नये और सरल अर्थ प्रतिपादित हुए, परिभाषित हुए और संप्रेषित हुए और सप्रेषित भी जन-जन तक। यह तो प्रज्ञान का परिभाषित होता वह पक्ष था, जिसकी रोशनी से दिग्-दिगन्त आलोकित हो रहा था। पर दूसरा तीसरा चौथा ... न जाने और कितने पक्ष/आयाम, साथ-साथ चेतना की ऊर्ध्वगामिता के साथ जुड़ रहे थे, साधक की प्रयोगधर्मिता को ऊर्जस्विता प्रदान कर रहे थे - शायद साधक भी अनजान था अपने आत्म-पुरुषार्थी प्रक्रम से। चाहे सघस्थ मुनियो, क्षुल्लको, ऐलेको की वैयावृत्ति का वात्सल्य पक्ष हो या तपश्चरण की कठिन और बहुआयामी साधना, क्षुल्लक गुणसागर की आत्म-शोधन-यात्रा अपनी पूर्ण तेजस्विता के साथ अग्रसर रही, अपने उत्कर्ष की तलाश मे।

महावीर जयन्ती के पावन प्रसग पर 31 मार्च 1988 को क्षुल्लकश्री ने आचार्य सुमतिसागर जी महाराज से सोनागिर सिद्धक्षेत्र (दतिया) म० प्र० मे मुनि धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तब आविर्भाव हुआ उस युवा, क्रान्तिद्रष्टा तपस्वी का: जिसे मुनि ज्ञानसागर के रूप मे युग ने पहचाना और उनका गुणानुवाद किया।

साधना के निर्ग्रन्थ रूप मे प्रतिष्ठित इस दिगम्बर मुनि ने जहॉ आत्म-शोधन के अनेक प्रयोग किये, साधना के नये मानदण्ड सस्थापित किये, उदात्त चिन्तन की ऊर्जस्वी धारा को प्रवाह मानकर तत्त्वज्ञान को नूतन व्याख्याओ से समृद्ध किया वही अपनी करूणा, आत्मीयता और सवेगशीलता को जन-जन तक विस्तीर्ण कर भगवान महावीर की ''सत्वेषु मैत्री'' की अवधारणा को पुष्पित, पल्लवित और सवर्द्धित भी किया। मध्यप्रदेश की प्रज्ञान-स्थली सागर मे मुनिराज का प्रथम चातुर्मास, तपश्चर्या की कर्मस्थली बना और यही से शुरू हुआ आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का वह अर्थ जिसने प्रत्येक कालखण्ड मे नए-नए अर्थ गढ़े और सवेदनाओ की समझ को साधना की शैली मे अन्तर्लीन कर तात्त्विक परिष्कार के नव-बिम्बो के सतरगी इन्द्रधनुष को आध्यात्मिक क्षितिज पर प्रतिष्ठित किया।

आगामी वर्षों मे मुनि ज्ञानसागर जी ने जिनवाणी के आराधको से स्थापित किया एक सार्थक सवाद ताकि आगम ग्रन्थो मे निबद्ध रहस्यों को सामान्य जन तक बोधगम्य भाषा और शैली मे सम्प्रेषित किया जा सके। सरधना, शाहपुर, खेकड़ा, गया, राची, अम्बिकापुर, बड़ागाँव, दिल्ली, मेरठ, अलवर, तिजारा, मथुरा, सोनागिर, सागर, ग्वालियर आदि स्थानो पर विद्वत् सगोष्ठियो के आयोजन ने बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों के जहाँ एक ओर उत्तर खोजे वही दूसरी ओर शोध एव समीक्षा के लिये नए सन्दर्भ भी परिभाषित किये गये। अनुपलब्ध ग्रन्थो के पुनर्प्रकाशन की समस्या को इस ज्ञान-पिपासु ने समझा परखा और सराहा। इस क्षेत्र में गहन अभिरुचि के कारण सर्वप्रथम बहुश्रुत श्रमण परम्परा के अनुपलब्ध प्रामाणिक शोध-ग्रन्थ, स्व० डॉ० नेमिचन्द शास्त्री द्वारा सर्जित साहित्य सम्पदा ''तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'' (चारो भाग) के पुनर्प्रकाशन की प्रेरणा प्रदान की, जिसे सुधी श्रावको ने अत्यल्प समयावधि मे परिपूर्ण भी किया।

पुनर्प्रकाशन का यह अनुष्ठान श्रमण-परम्परा पर काल के प्रभाव से पड़ी धूल को हटाकर उन रत्नों को जिनवाणी के साधकों के सम्मुख ला रहा है जो विस्मृत से हो रहे थे। पूज्य गुरुदेव की मंगल प्रेरणा से प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) के अवधान मे शताधिक ग्रन्थों का प्रकाशन/पुनर्प्रकाशन, अब तक हुआ है, जिसमें तिलोयपण्णत्ती, जैनशासन, जैनधर्म आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस क्रम को गति देते हुए पूज्य उपाध्यायश्री ने आधुनिक कालखण्ड में भुला दिये गये संतो एव विद्वानो के कृतित्त्व से समाज को परिचित कराने का भी गुरुकार्य किया है, जिसकी परिणति स्वरूप आचार्य शान्तिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रन्थ है, जिसके प्रकाशन से एक ओर विस्मृत से हो रहे उस अत्यन्त पुरातन साधक से समाज का परिचय हुआ, जिसने सम्पूर्ण भारत मे दिगम्बर श्रमण परम्परा को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध मे अभिवृद्धि करने का गुरु-कार्य किया था, तो दूसरी ओर उनकी समृद्ध एव यशस्वी शिष्य परम्परा से भी समाज को रू-बरू कराया। सुप्रसिद्ध जैनदर्शनविद् स्व० प० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य की स्मृति मे एक विशाल स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा कर मात्र एक जिनवाणी-आराधक का गुणानुवाद ही नही हुआ, प्रत्युत नयी पीढ़ी को उस महान साधक के अवदानो से परिचित भी कराने का अनुष्ठान पूर्ण हुआ। इस श्रृखला मे स्व० डॉ० हीरालाल जी जैन, स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये आदि विश्रुत विद्वानो के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर शोधपरक सगोष्ठियो की आयोजना के प्रस्तावो को पूज्यश्री ने एक ओर अपना मंगल आशीर्वाद दिया है दूसरी ओर जैन पुरातत्त्व के गौरवशाली पन्नो पर प्राचीन भारतीय इतिहासवेत्ताओ एव पुरातत्त्वविदो को ककाली टीले, मथुरा और कुतुबमीनार के अनबूझ रहस्यो की परतो को कुरेदने और उसकी वैभव सम्पदा से वर्तमान का परिचय कराने जैसा ऐतिहासिक कार्य भी पूज्य गुरुवर के मगल आशीर्वाद से ही सभव हो सका है।

इस तप पूत ने वैचारिक क्रान्ति का उद्घोष किया है इस आशा और विश्वास के साथ कि आम आदमी के समीप पहुँचने के लिये उसे उसकी प्रतिदिन की समस्याओ से मुक्ति दिलाने के उपाय भी सस्तुत करने होगे। तनावो से मुक्ति कैसे हो ? व्यसन मुक्त जीवन कैसे जिएँ ? पारिवारिक सम्बन्धो मे सौहार्द कैसे स्थापित हो ? तथा शाकाहार को जीवन-शैली के रूप मे कैसे प्रतिष्ठापित किया जाए ? आदि यक्ष प्रश्नो को बुद्धिजीवियो, प्रशासको, पत्रकारो, अधिवक्ताओ, शासकीय/अर्द्धशासकीय एव निजी क्षेत्रो के कर्मचारियो व अधिकारियो, व्यवसायियो, छात्र-छात्राओ आदि के साथ परिचर्चाओ, कार्यशालाओ, गोष्ठियो के माध्यम से उत्तरित कराने के लिए एक ओर एक रचनात्मक सवाद स्थापित किया तो दूसरी ओर श्रमण सस्कृति के नियामक तत्त्वो एव अस्मिता के मानदण्डो से जन-जन को दीक्षित कर उन्हे जैनत्व की उस जीवन शैली से भी परिचित कराया जो उनके जीवन की प्रामाणिकता को सर्वसाधारण के मध्य सस्थापित करती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की अनुभव सम्पन्न ज्ञान सम्पदा को, गुरुवर ने आपादमस्तक झिझोड़ा है, जिसकी अद्यतन प्रस्तुति अतिशय क्षेत्र तिजारा एव श्री महावीर जी मे आयोजित जैन चिकित्सको की विशाल सगोष्ठी थी जिसमे भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशो से आये साधर्मी चिकित्सक बन्धुओ ने अहिंसक चिकित्सा पद्धति के लिये एक कारगर कार्ययोजना को ठोस रूप दिया और सम्पूर्ण मानवता की प्रेमपूर्ण सेवा के लिये पूज्यश्री की सन्निधि मे अपनी वचनबद्धता को रेखाकित किया, जो श्लाघ्य है, स्तुत्य है।

पूज्यश्री ने समाज को एक युगान्तर बोध कराया-भूले बिसरे सराक भाइयो को समाज की मुख्य-धारा मे जोड़कर सराक भाइयो के बीच अरण्यो में चातुर्मास कर उनके साथ संवाद स्थापित किया, उनकी समस्याओ को समझा-परखा और समाज का आह्वान किया, उनको अपनाने के लिए। पूज्यश्री की प्रेरणा से सराकोत्थान का एक नया युग प्रारम्भ हुआ है जिसके कुछ प्रतीक हैं उस क्षेत्र में निर्मित हो रहे नए जिनालय तथा सराक केन्द्र एव औषधालय आदि जहाँ धार्मिक तथा लौकिक शिक्षण की व्यवस्था की जा रही है।

इस आदर्श तपस्वी और महान विचारक के द्वारा धर्म के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा एव रूढ़ियो के समापन मे सन्नद्ध सत्य की शाश्वतता के अनुसधित्सुओं/जिज्ञासुओ के प्रति अनुराग के प्रति सभी नतमस्तक है। जिनवाणी के आराधको को उनके कृतित्व के आधार पर प्रतिवर्ष श्रुत सवर्द्धन सस्थान के अवधान मे सम्मानित करने की योजना का क्रियान्वयन पूज्य उपाध्यायश्री के मगल आशीर्वाद एव प्रेरणा से सम्भव हो सका है। यह सस्थान प्रतिवर्ष श्रमण परम्परा के विभिन्न आयामो मे किए गए उत्कृष्ट कार्यों के लिए पाँच वरिष्ठ जैन विद्वानो को इकतीस हजार रुपयो की राशि से सम्मानित कर रहा है। सस्थान के उक्त प्रयासो की भूरि-भूरि सराहना करते हुए बिहार के तत्कालीन राज्यपाल महामहिम श्री सुन्दरसिह जी भण्डारी ने तिजारा मे पुरस्कार समारोह के मुख्य अतिथि के रूप मे अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था "कि विलुप्त हो रही श्रमण परम्परा के साधको के प्रज्ञान गुणानुवाद की आवश्यकता को इस तपोनिष्ठ साधक ने पहचान कर तीर्थंकर महावीर की देशना को गौरवमण्डित करने के महायज्ञ मे जो अपनी समिधा अर्पित की है वह इस देश के सास्कृतिक इतिहास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव प्रेरक प्रसग है, जिसके प्रति युगो-युगो तक इस देश की बौद्धिक परम्परा ऋणी रहेगी।" गुणानुवाद के प्रतिष्ठापन के इस प्रक्रम को अधिक सामयिक बनाने के उद्‌देश्य से श्रमण परम्परा के चतुर्दिक विकास मे सम्पूर्णता मे किए गए अवदानो के राष्ट्रीय स्तर पर किए गए आकलन के आधार पर एक लाख रुपयो की राशि के पुरस्कार का आयोजन २१वी सदी की सम्भवत पहली रचनात्मक श्रमण घटना होगी। पूज्य गुरुदेव का मानना है कि प्रतिभा और सस्कार के बीजो को प्रारम्भ से ही पहचान कर सवर्द्धित किया जाना इस युग की आवश्यकता है। इस सुविचार का राँची से प्रतिभा सम्मान समारोह के माध्यम से विकसित किया गया जिसमे प्रत्येक वय के समस्त प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओ का सम्मान, बिना किसी जाति/धर्म के भेद-भाव के किया गया। गुणानुवाद की यह यात्रा गुरुदेव के बिहार से विहार के साथ प्रत्येक ग्राम, जनपद और नगर मे विहार कर रही है, और नयी पीढ़ी को विद्यालयो से विश्वविद्यालयो तक प्रेरित कर रही है, स्फूर्त कर रही है।

परम पूज्य उपाध्याय मुनि श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज वर्तमान युग के ऐसे युवा द्रष्टा, क्रान्तिकारी विचारक, जीवन-सर्जक और आचारनिष्ठ दिगम्बर सन्त हैं जिनके जनकल्याणी विचार जीवन की आत्यतिक गहराइयो, अनुभूतियो एव साधना की अनन्त ऊँचाइयो तथा आगम प्रामाण्य से उद्‌भूत हो मानवीय चिन्तन के सहज परिष्कार मे समृद्ध हैं। पूज्य गुरुदेव के उपदेश हमेशा जीवन-समस्याओ/सन्दर्भों की गहनतम गुत्थियो के मर्म का सस्पर्श करते हैं, जीवन को उसकी समग्रता मे

जानने और समझने की कला से परिचित कराते हैं। उनके साधनामय तेजस्वी जीवन को शब्दो की परिधि में बाँधना सम्भव नहीं है, हाँ उसमें अवगाहन करने की कोमल अनुभूतियाँ अवश्य शब्दातीत हैं। उनका चिन्तन फलक देश, काल सम्प्रदाय, जाति, धर्म-सबसे दूर, प्राणिमात्र को समाहित करता है, एक युग बोध देता है, नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है, वैश्विक मानव की अवधारणा को ठोस आधार देता है जहाँ दूर-दूर तक कहीं भी दुरूहता नही है, जो है, वह है, भाव-प्रवणता, सम्प्रेषणीयता और रत्नत्रय के उत्कर्ष से विकसित हुआ उनका प्रखर तेजोमय व्यक्तित्व, जो बन गया है करूणा, समता और अनेकान्त का एक जीवन्त दस्तावेज।

पूज्य उपाध्यायश्री का जीवन, क्रान्ति का श्लोक है, साधना और मुक्ति का दिव्य छन्द है तथा है मानवीय मूल्यो की वन्दना एव जन-चेतना के सर्जनात्मक परिष्कार एव उसके मानसिक सौन्दर्य एव ऐश्वर्य के विकास का वह भागीरथ प्रयत्न जो स्तुत्य है, वदनीय है और है जाति, वर्ग, सम्प्रदाय भेद से परे पूरी इन्सानी जमात की बेहतरी एव उसके बीच "सत्त्वेषु मैत्री" की सस्थापना को समर्पित एक छोटा, पर बहुत स्थिर और मजबूती भरा कदम। गुरुदेव तो वीतराग साधना पथ के पथिक हैं, निरामय हैं, निर्ग्रन्थ हैं, दर्शन, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी हैं। वे क्रान्तिद्रष्टा हैं और परिष्कृत चिन्तन के विचारो के प्रणेता हैं। महाव्रतो की साधना में रचे-बसे उपाध्यायश्री की सवेदनाएँ मानव मन की गुत्थियो को खोलती हैं और तन्द्रा मे डूबे मनुज को आपाद-मस्तक झिझोड़ने की ताकत रखती हैं। परम पूज्य उपाध्यायश्री के सन्देश युगो-युगो तक सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शन करे, हमारी प्रमाद-मूर्च्छा को तोड़े, हमे अन्धकार से दूर प्रकाश के उत्सव के बीच जाने का मार्ग बताते रहे, हमारी जड़ता की इति करे, हमे गतिशील बनाएँ, सभ्य, शालीन एवं सुसस्कृत बनाते रहे, यही हमारे मगलभाव हैं, हमारे चित्त की अभिव्यक्ति है, हमारी प्रार्थना है।

❑ ❑ ❑

प्रकाशकीय

जैन वाङ्मय और जैन पाण्डुलिपियो के सकलन, संरक्षण तथा सम्पादन, नवीन साहित्य के प्रकाशन, लोकोपयोगी सत्साहित्य जन-जन को सुलभ कराने तथा आगमिक ग्रन्थो के प्रकाशन की क्षीण होती परम्परा को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से परम पूज्य सराकोद्धारक उपाध्यायरत्न श्री १०८ ज्ञानसागर मुनिराज की प्रेरणा से ईस्वी 1991 मे हुए गया (बिहार) चातुर्मास में प्राच्य श्रमण भारती नामक सस्था की मुजफ्फरनगर मे स्थापना की गयी थी। इसके पूर्व बुढ़ाना (मुजफ्फरनगर) मे आचार्य शान्तिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रन्थमाला की भी स्थापना हुई थी। जैन विद्या के क्षेत्र मे परम पूज्य समाधिस्थ १०८ श्री गणेशकीर्ति (श्री गणेशप्रसाद वर्णी जी) के पश्चात् सन्त उपाध्यायरत्न श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज का नाम ही उल्लेखनीय है, जिन्होने एक ऐसी संस्था को जन्म दिया जिससे जैन वाङ्मय का यथेष्ट प्रचार-प्रसार किया जा रहा है।

इन सस्थाओ ने तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चार भाग), जैन धर्म, जैनशासन, षट्खण्डागम की शास्त्रीय भूमिकाएँ, तिलोयपण्णत्ती, षट्खण्डागम जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो को पुनः प्रकाशित कराकर जन-जन को सुलभ कराये हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड-परिशीलन, न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन जैसे नये ग्रन्थ प्रकाशित कर ग्रन्थो की विषयवस्तु को जानने/समझने मे पाठको की सराहनीय सहायता की है। जैन न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान, आचार्य कुन्दकुन्द सगोष्ठी, आचार्य समन्तभद्र सगोष्ठी, तीर्थंकर पार्श्वनाथ संगोष्ठी, सराक संगोष्ठी आदि से सम्बन्धित शोधपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त उन विद्वानो को चिरस्मरणीय बनाये रखने के लिये प्रयत्न किया गया है, जिन्होने जैन वाङ्मय की बहुत सराहनीय सेवा की है। ऐसे विद्वानो में डॉ० हीरालाल जैन व्यक्तित्व एव कृतित्व, डॉ० कामताप्रसाद व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प० जुगलकिशोर मुख्तार व्यक्तित्व एव कृतित्व जैसी रचनाएँ भी प्रकाशित की गयी हैं। सराक बन्धु और उनके क्षेत्र की परिचयात्मक पुस्तके भी प्रकाशन मे ली गयी हैं। अब तक शताधिक ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। जनोपयोगी प्रकाशन भी उपाध्यायश्री की प्रेरणा एव आशीर्वाद के प्रतिफल हैं।

प्राच्य श्रमण भारती का अप्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाशित करना भी एक उद्देश्य है, साथ ही ऐसे आध्यात्मिक ग्रन्थ प्रकाशित करना भी अपना कर्त्तव्य समझती है जिनमे सरल भाषा मे ऐसी विषयवस्तु दी गयी है जो दु ख से निकालकर सुख का मार्ग दर्शाते हैं।

'आत्मानुशासन' एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। समाधिस्थ आचार्यकल्प श्री १०८ विवेकसागर जी महाराज की प्रेरणा से श्री दिगम्बर जैन समाज मारोठ (नागौर) राजस्थान द्वारा इसका प्रथम संस्करण फरवरी 1988 मे प्रकाशित हुआ था।

सस्थान द्वारा वर्ष 2004 मे इस ग्रथ को सशोधित व संपादित कराकर इसका पुनर्प्रकाशन किया था। ग्रन्थ की उपयोगिता व उपलब्धता को दृष्टिगत रखते हुए पूज्य उपाध्यायश्री के जन्म के ५०वे वर्ष, स्वर्ण जयंती वर्ष के उपलक्ष्य मे अब इसका द्वितीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी जोधपुर ने ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद, सम्पादन, सशोधन आदि कार्य किया है। सस्था उनके प्रति आभारी है तथा सभी सहयोगियो का आभार मानती है।

मंत्री
प्राच्य श्रमण भारती
मुजफ्फरनगर

आत्मानुशासन ग्रन्थ के कर्त्ता श्रीगुणभद्राचार्य

परम प्रसिद्ध प्रकाण्ड महाविद्वान् दिगम्बर जैनाचार्यों मे श्री गुणभद्राचार्य का नाम अन्यतम है। आप प्रतिभाशाली श्रेष्ठ कवि थे और योग्य गुरु के योग्यतम शिष्य। इनके ग्रन्थो की प्रशस्तियो से स्पष्ट है कि ये सेनसघ के आचार्य थे और 'महापुराण' व 'जयधवला' के रचयिता भगवज्जिनसेनाचार्य के शिष्य थे। आपके दादा गुरु का नाम वीरसेन है। आपने आचार्य दशरथ को भी अपना गुरु लिखा है सम्भत ये इनके विद्या गुरु रहे होंगे।

गुणभद्राचार्य का निवासस्थान आरकट जिले का 'तिरुमरुङकुण्डम' नगर माना जाता है कर्नाटक और महाराष्ट्र ही आपकी साधनाभूमि रही है। इन्ही प्रान्तो मे रहकर आपने अपने साहित्य का प्रणयन किया है। आपके गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही है।

आचार्य जिनसेनकृत अधूरे 'महापुराण' को आपने उनके पश्चात् 'उत्तरपुराण' की रचना द्वारा पूर्ण किया। वास्तव मे 'उत्तरपुराण' को भी वे स्वय पूरा न कर सके और स्वर्ग सिधार गये तब उनके पश्चात् उनके सुयोग्य शिष्य लोकसेनाचार्य ने उसे पूरा किया। 'उत्तरपुराण' की प्रशस्ति मे ४२ पद्य हैं जिनमे से आरम्भ के २७ पद्य गुणभद्र द्वारा विरचित और शेष १५ पद्य उनके शिष्य लोकसेन द्वारा विरचित माने जाते हैं। गुणभद्र स्वय 'उत्तरपुराण' के रचनाकाल के सम्बन्ध मे मौन हैं राजधानी मे रहकर समस्त वनवास देश का शासन करते थे। उस समय शक सम्वत् ८२० मे श्रावण कृष्णा पचमी गुरुवार के दिन यह 'उत्तरपुराण' पूर्ण हुआ और जनता ने इसकी पूजा की। अत· गुणभद्र का समय शक सम्वत् ८२० ई०सन् ८९८ अर्थात् नवमशती (ई०सन्) का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

गुणभद्र का सम्पूर्ण जीवन साहित्यसाधना मे ही व्यतीत हुआ। ये उत्कृष्ट ज्ञानी और महान् तपस्वी थे। आपकी प्रसादगुण पूर्ण रचनाये बड़ी सरस और सरल हैं। 'आत्मानुशासन', जिनदत्तचरितकाव्य, उत्तरपुराण (महापुराण का उत्तर भाग) और आदिपुराण (४३वे पर्व के चौथे पद्य से समाप्ति पर्यन्त कुल १६२० पद्य) आपकी रचनाये हैं।

आत्मानुशासन

कुल २७० पद्यो का यह ग्रन्थ विषयविमोहित लोकसेन मुनि के सम्बोधन के 'मिसकरि' लिखा गया है। आचार्यश्री ने १३ प्रकार के छन्दो मे इसे निबद्ध किया है - आर्या (२७), अनुष्टुप् (१००), शार्दूलविक्रीडित (५९), स्रग्धरा (६), वसन्ततिलका (२५), शिखरिणी (१६), मालिनी (९), हरिणी (१२), मन्दाक्रान्ता (३), वशस्थ (३), पृथ्वी (८), उपेन्द्रवज्रा (१) और रथोद्धता (१)। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट है आत्मा के यथार्थ स्वरूप की शिखा देने के लिए इसका प्रणयन हुआ है। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य ने सस्कृत टीका और पण्डित टोडरमल जी ने ढूढारी मे टीका लिखी है। प्रस्तुत संस्करण मे टोडरमल जी की टीका को खड़ी बोली मे रूपान्तरित किया गया है तथा प्रत्येक श्लोक पर विषय से सम्बन्धित शीर्षक दिया गया है तथा उसी के अनुरूप विस्तृत विषय सूची प्रारम्भ मे तैयार की गई है।

विषय सूची देखने पर विषयों की पुनरावृत्ति हुई ज्ञात होती है परन्तु उपदेश की शैली में ऐसा होना स्वाभाविक है। ग्रन्थ की शैली भर्तृहरि के 'शतकत्रय' के समान कही जा सकती है।

मगलाचरण और ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा के बाद सम्यग्दर्शन, दैव की प्रबलता, सत्साधुप्रशंसा, मृत्यु की अपरिहार्यता, तपाराधना, स्त्रीनिन्दा, समीचीन गुरु, साधुओं की असाधुता, मनोनिग्रह, कषायविजय, ससार की अनित्यता, देहदशा, आशानिन्दा, चारित्राराधना, परिग्रहनिन्दा, भेदविज्ञान, सतप्रशसा आदि विषयो पर बड़ी सरल भाषा मे पद्यरचना की गई है। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में स्वय ग्रन्थकर्ता ने अपने आपको जिनसेनाचार्य का शिष्य घोषित किया है।

ग्रन्थ की पद्यरचना अलङ्कारो से परिपूर्ण है। अनुप्रास अलङ्कार के अतिरिक्त उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक अपह्नुति, अप्रस्तुतप्रशसा, श्लेष, विभावना, व्याजस्तुति, दृष्टान्त और उदाहरण अलकारो का भी सुष्ठु सयोजन हुआ है।

विविध छन्दों और नाना अलङ्कारो से परिपूर्ण साहित्यिक शैली मे लिखा गया 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण धर्म एव नीतिग्रन्थ है जिसका उद्देश्य (उपदेश द्वारा) सासारिक प्राणियो को ससार-बधन से छुड़ाना है।

भाषावचनिकाकार पण्डितप्रवर टोडरमल

जयपुर (राजस्थान) निवासी श्री जोगीदास गोदीका (भैंसा, बड़जात्या) और श्रीमती रम्भादेवी की सन्तान पण्डित टोडरमल जैन आम्नाय मे अपने समय मे एक क्रान्तिकारी पण्डित हुए हैं। 'साहूकारी' आपका व्यवसाय था। आपकी सामान्य शिक्षा भी जयपुर की एक आध्यात्मिक तेरापथ शैली मे हुई जिसके सचालक वशीधर जी थे। आप विवाहित थे पर आपकी पत्नी व ससुराल पक्ष के सम्बन्ध मे कही कोई उल्लेख नही मिलता। हरिचन्द और गुमानीराम आपके दो पुत्र थे। गुमानीराम विशेषक्षयोपशम के धनी थे, इनके नाम पर एक पथ भी चला 'गुमानपथ'।

आप प्राकृत, सस्कृत और हिन्दी के ज्ञाता थे। कन्नड भाषा का भी आपको ज्ञान था जो आपने अभ्यास से अन्य किसी की सहायता के बिना स्वय प्राप्त किया था। प्राकृत ग्रन्थो मे आपने गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणसार और त्रिलोकसार की तथा सस्कृत ग्रन्थो मे आत्मानुशासन और पुरुषार्थसिद्धियुपाय की भाषा टीकाये लिखी। इनके अतिरिक्त आपने गोम्मटसार व लब्धिसार की अर्थसदृष्टियॉ तैयार की तथा गोम्मटसार पूजा, मोक्षमार्गप्रकाशक (अपूर्ण) तथा रहस्यपर्णू चिट्ठी का प्रणयन किया।

कहते हैं कि आप शास्त्र-रचना मे इतने सलग्न रहते थे कि छह माह तक जब तक कि गोम्मटसार की टीका पूर्ण न हो गई, आपको यह भी भान नही हुआ कि माता भोजन मे नमक नही डालती है।

आप अत्यन्त विरक्त थे। आपकी विद्वत्ता व आकट्य तर्कों से चिढ़कर किसी विद्वेषी ने राजा से आपकी चुगली कर दी। फलस्वरूप, अल्पायु (२७, ३२, ४७) मे ही आपको हाथी के पाँव तले रौंद कर मार डालने का दण्ड दिया गया, जिसे आपने सहर्ष स्वीकार ही नहीं किया अपितु इस पापकार्य में प्रवृत्ति न करने वाले हाथी को स्वय सम्बोधित कर प्रवृत्ति भी कराई। आपका समय विक्रम की अठारहवी शताब्दी का अन्त और उन्नीसवी शताब्दी का आरम्भिक काल है।

'आत्मानुशासन' की टीका करते हुए पण्डितजी ने पहले गुणभद्राचार्य रचित संस्कृत श्लोक का अर्थ लिखा है अनन्तर कतिपय विस्तार सहित भावार्थ। भावार्थ मे उन्होंने मूल ग्रन्थकर्त्ता के भाव को व्याख्या के रूप में सरल शब्दावली मे स्पष्ट किया है। वचनिका विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखी गई है, यत्र तत्र प्रश्नोत्तर द्वारा भी विषय को खोला गया है। वाक्य रचना अवसर के अनुकूल संक्षिप्त भी है तो विस्तार भी लिये हुए है। शैली में उनका तार्किक स्वभाव स्पष्ट झलकता है। पढ़ते हुए पाठक की रुचि बनी रहती है, वह ऊबता नही। वचनिका प्रारम्भ करने से पूर्व मगलाचरण करने के बाद पण्डितजी ने वचनिका लिखने का प्रयोजन स्पष्ट किया है -

सोहै जिनशासन में आत्मानुशासन श्रुत, जाकी दुःखहारी सुखकारी साची शासना,
जाको गुणभद्रकर्त्ता गुणभद्र जाको जानि, भद्र गुणधारी भव्य करत उपासना।
ऐसे सार शास्त्र को प्रकाशे, अर्थ जीवनि को, बनैं उपकार नाशै मिथ्या भ्रम वासना,
तातैं देशभाषा करि अर्थ को प्रकाश करौं, जातें मन्दबुद्धिहू के होत अर्थ भासना।।

निवेदन

आज सस्कृत के पठन-पाठन का चलन कम हो गया है अत सस्कृत भाषा के ग्रन्थो को पढ़ने-वाले भी बहुत कम हैं। पण्डित टोडरमल जी ने सस्कृत भाषा मे लिखे 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ के 'अर्थ' का प्रकाश 'देशभाषा' मे किया है, जिससे मन्दबुद्धि वाले के भी 'अर्थभासना' हो सके। परन्तु आज प० टोडरमल जी की यह 'देशभाषा' भी समझने मे कठिनाई होने लगी है अत उनकी कृतियो की भाषा परिवर्तन की आवश्यकता समझकर उनकी सभी रचनाओ का भाषान्तरण किया जा चुका है।

अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी, दृढ़ सयमी पूज्य मुनि श्री विवेकसागर जी महाराज के आदेश से मैंने प्रस्तुत कृति का भाषा परिवर्तन किया है। भावो को ज्यो-का-त्यो सुरक्षित रखा है फिर भी यदि कही भाव-परिवर्तन दृष्टिगत हो तो विद्वान् पाठकगण मुझ मन्दबुद्धि को क्षमा करे और उसको सशोधन शुद्ध करके ही पढ़े। प्रत्येक भाषा की प्रकृति, वाक्य रचना और शब्दावली विशेषता लिये हुए उसकी अपनी होती है जिसे शत-प्रतिशत दूसरी भाषा मे कह पाना काफी कठिन काम है। पण्डित जी की देशभाषा और खड़ी बोली मे पर्याप्त साम्य होते हुए भी मुझे इस कठिनाई का अनुभव हुआ है। इन अवसरो पर मैंने खड़ी बोली की प्रकृति की परवाह न करके भावो की सुरक्षा हेतु 'देशभाषा' की प्रकृति को ही अपनाया है। अत कहीं-कही भाषान्तरण कुछ अटपटा-सा और प्रवाहहीन लग सकता है, अपनी इस अक्षमता के लिये मैं सुधी पाठको से क्षमा चाहता हूँ।

मैं पूज्य मुनिश्री का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होने इस भाषान्तरण का आदेश देकर मुझे श्रुतसेवा का अपूर्व लाभ प्रदान किया। आज इसके प्रकाशन के अवसर पर वे पूज्यश्री हम लोगो के बीच नही हैं। ३ मार्च १९८६ को सीकर (राजस्थान) मे उनकी समाधि हुई। मैं पूज्यश्री के पुण्य स्मरणपूर्वक यह भाषान्तरण उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

यह संस्करण

आत्मानुशासन की महती उपयोगिता को देखते हुए परम पूज्य उपाध्यायरत्न श्री १०८ ज्ञानसागर

जी महाराज की सद्प्रेरणा से सन् २००४ मे इसका पुनर्प्रकाशन किया गया था। इस सस्करण को लोगो ने हाथोहाथ लिया और जल्द ही प्रतियाँ समाप्त हो गईं। प्रस्तुत सस्करण को सशोधित एव सम्पादित करके पुनर्प्रकाशन किया जा रहा है। पूज्य उपाध्यायश्री ने जहॉ एक ओर सराकोद्धार के लिए बिहार प्रान्त के तड़ाई जैसे अविकसित एव पहाड़ी क्षेत्र मे वर्षायोग सम्पन्न कर सदियो से बिछुड़े सराक बन्धुओ को मुख्य धारा से जोड़कर सन्मार्ग पर लगाया है, वही दूसरी ओर प्राचीन ग्रथ भण्डार को समृद्ध करने का सम्यक् पुरुषार्थ किया है। साथ ही प्राचीन, अर्वाचीन सरस्वती-साधको के कृतित्व के मूल्याकन हेतु सगोष्ठियॉ आयोजित कर और 'विद्वत्सम्मान' को सरक्षण प्रदान कर सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु अपनी चिन्ता, रुचि एव दूरदर्शिता का परिचय दिया है। मै पूज्यश्री के चरणो मे सविनय नमोऽस्तु निवेदित करता हूँ।

प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर के माध्यम से इस कृति का प्रकाशन हो रहा है। अल्प समय मे ही सस्था के सुरुचिपूर्ण प्रकाशनो ने पाठको को आकर्षित किया है। मै सस्था के सभी सदस्यो के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

ग्रन्थ मे रही भूलो के लिए सुधी गुणग्राही विद्वानो से क्षमा चाहता हूँ।

विनीत

– डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

आशीर्वचन

सभी ससारी प्राणी सुख चाहते है और दु ख से भयभीत हैं। सुख पाने के लिए मन मे करुणाभाव, वचन में हितैषीपना और काया मे सयम आवश्यक है। कुवचन, निर्दयचित्त और अव्रत-असयम से दुख ही प्राप्त होता है, सुख नही। हिंसादिक पाप अशुभ-क्रियाएँ हैं। वे त्याज्य हैं। देव-वन्दना, देव-पूजा, स्तुति, व्रतोपवास, सयमादि शुभोपयोग के साधन हैं। शुद्धोपयोग के प्राप्त होते ही शुभोपयोग छूट जाता है। अशुभपयोग - पापक्रियाएँ बुद्धिपूर्वक छोड़ी जाती है और शुभ क्रियाएँ छोड़ी नही जाती वे स्वय छूट जाती है। शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के ही होता है। मिथ्यादृष्टि के शुभ योग होता है न कि शुभोपयोग। इसलिए सम्यग्दृष्टि की शुभ क्रियाओ को परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए भेदविज्ञान अर्थात् यह जानना और मानना आवश्यक है कि मैं चैतन्य हूँ। पर पदार्थ पर हैं। देहादिक पर पदार्थों को अपना जानकर उनमे रागभाव रखना कर्मबन्ध का कारण है। अत देह से भी ममत्व रखना उचित नही, उससे ममता त्यागो। जिन्हे शरीर से ममत्व होता है वे ही बार-बार शरीर धारण करते है। इसके विपरीत जो निरादर से शरीर छोड़ते हैं उन्हे परमपद - मोक्ष प्राप्त होता है।

आत्मा - अजात है। वह उत्पन्न नही होता। जो उत्पन्न नही होता, मरण भी उसका नही होता। मरण तो उसी का होता है जो उत्पन्न होता है। अत आत्मा अनश्वर है। अमूर्त है। व्यवहारनय से कर्मों का और निश्चयनय से स्वभाव का कर्त्ता है। इसी प्रकार व्यवहारनय से वह सुख-दु खादि का भोक्ता है निश्चयनय से स्वभाव का का भोक्ता है। अज्ञान से इन्द्रियजनित सुख को सुख माना जाता है। निश्चयनय से स्वभाव का भोक्ता है। अज्ञान से इन्द्रियजनित सुख को सुख माना जाता है। निश्चिय से आत्मा तो परमानन्दमयी ज्ञानरूप है। व्यवहारनय से आत्मा देहमात्र है और निश्चयनय से चेतना मात्र। कर्ममल से रहित होकर वह लोक के शिखर पर अचल स्थित है।

सुख के सन्दर्भ मे यह भी जानना आवश्यक है कि सुख स्वाधीनता मे है। सिद्ध परमात्मा सदा स्वाधीन रहते है। इसीलिए उन्हे सुखी कहा जाता है। मुनीश्वरो के स्वाधीनता होने से उनके कायक्लेश रूप दु ख को भी सुख कहा गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ को जनोपयोगी बनाने मे सम्पादक एव भाषा परिवर्तनकर्त्ता डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर ने तथा राकेश जैन, सागर तथा डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन' महावीरजी, ने सराहनीय सहयोग किया है। तीनो विद्वानो को मेरा सस्नेह शुभाशीष है। वे कल्याणपथ पर बढ़े और सरस्वती की इसी प्रकार सेवा करते रहे।

– उपाध्याय ज्ञानसागर मुनि

प्रस्तावना

दिगम्बराचार्य गुणभद्र स्वामी द्वारा रचित तथा डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर द्वारा सम्पादित प्रस्तुत ग्रन्थ उदारचित्त महामुनियो के चित्त की स्थिरता को लक्ष्य कर लिखा गया था (श्लोक २६८)। यद्यपि ग्रन्थ मे ऐसे सकेत प्राप्त नही होते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ अपने धर्म भाई लोकसेन मुनि के विषय-व्यामोह को दूर करने हेतु लिखा गया था।[1] किन्तु ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना भी आचार्य शुभचन्द्र द्वारा अपने भाई भर्तृहरि को मुनिमार्ग मे दृढ़ होने तथा योग का अध्ययन करने के लिए की गयी थी। जिसे पढ़कर भर्तृहरि परमयोगी हो गये थे।[2] श्री गुणभद्राचार्य प्रणीत उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे लोकसेन मुनि को आचार्य गुणभद्र का प्रमुख सर्वशास्त्रज्ञ अखण्ड चारित्रधारी शिष्य कहा गया है।[3] इन उल्लेखो के आलोक मे लोकसेन मुनि आचार्य गुणभद्र के धर्म भाई प्रमाणित न होकर प्रमुख शिष्य रहे ज्ञात होते हैं तथा यह सभावना भी व्यक्त होती है कि ग्रन्थ लोकसेन मुनि को लक्ष्य कर लिखा गया होगा।

स्व० डॉ० हीरालाल जैन और स्व० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने उक्त उत्तरपुराण की प्रास्तविकी पृष्ठ चार मे प्रस्तुत ग्रन्थ मे धार्मिक और नैतिक २७२ पद्यो का समावेश बताया है, जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ मे मात्र २७० श्लोक हैं। सभवत· उन्होने भाषा-टीकाकार पण्डित टोडरमल द्वारा मङ्गलाचरण स्वरूप कहे गये दोहा और सवैया दोनो पद्यो को भी सम्मिलित कर लिया है।

लेखक ने प्रस्तुत रचना १४ विभिन्न छन्दो मे लिखी है। उसमे जिन छन्दो का व्यवहार किया गया है, वे छन्द तथा उनकी श्लोक सख्या निम्न प्रकार है -

अनुष्टुप – २२, २९, ३५ ३६, ३९, ४३, ४५, ४६, ५६, ६३, ६५, ६६, ६७, ७०, ७१, ७३ ७४, ७८, ७९, ८२, ८४, ८५, ९४, १०३, १०४, १०९, ११०, ११६, ११७, १२०, १२१ १२२, १२३, १२४ १३५, १३९ १४२, १४३ १४५ १४६, १५२ १५३, १५४, १५५ १५६,

१५७, १६१, १६२ १६३ १६४, १६७, १७१, १७२, १७४, १७५, १७६, १७७ १७८ १७९, १८२ १८३ १८४, १८६, १८७ १८८, १९७, १९८ २०१ २०३ २०४, २०६, २०७, २०८ २०९, २१० २११, २१२ २२१ २३२, २३३ २३४, २३६, २३७, २३८ २३९, २४० २४२, २४३, २४५, २४६ २४७, २४९, २५१, २५४, २५५, २६५, २६६, २६७, २६९, २७० = १००।

आर्या – १, २, ३, ४, ८ ११, १५४ १६, १७, १८, १९, २०, २१, २३, २४, २५, २७ ३०, ८६, ९२, १०८, १११, १८०, १८१, १९६, २३१ = २६।

उपेन्द्रवज्रा – २३५ = १।

पुष्पिताग्रा – २४८ = १।

---

१ श्री दिगम्बर जैन समाज मारोठ द्वारा फरवरी १९८८ ईसवी मे प्रकाशित आत्मानुशासन तथा सम्यक्त्वसारशतकम्, आशीर्वचन पृष्ठ १३।

२ दिगम्बर जैनाचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई ईसवी १९२७ प्रकाशन प्रस्तावना पृष्ठ १३।

३ विदित सकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीश । कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्य ।। उत्तरपुराण भारतीय ज्ञानपीठ काशी ईसवी १९५४ प्रशस्ति श्लोक २८।

पृथ्वी – ११४, १३१, १३७, १४४, १८९, १९०, १९४, २२९ = ८।

मन्दाक्रान्ता – ८८, ९९, १९९ = ३।

मालिनी – ६०, १३६, १६९, २१३, २२५, २२६, २६४, २६८ = ८।

रथोद्धता – २५३ = १।

स्रग्धरा – १२, १३, १४, १३८, २१५, २५८ = ६।

वशस्थ – १००, १०६, १०७ = ३।

वसन्ततिलका – २६, ३१, ४७, ७७, ८३, ९३, ९५, ९८, १०१, १३२, १३३, १४०, १४८, १५१, १६६, १६८, १७३, १९१, १९५, २०२, २०५, २१६, २१७, २२२, २२८, = २५।

शार्दूलविक्रीडित – ५, ७, ९ १०, २८, ३२, ३३, ३७, ३८, ४०, ४१, ४२, ४४, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५७, ५८, ५९, ६१, ६२, ६४, ८१, ८७, ८९, ९०, ९१, ९६, १०२, ११२, १२५, १२६, १२७, १२८, १३०, १३४, १४१, १५०, १५९, १६०, १९३, २१४, २१८, २१९, २२७, २३०, २४१, २४४, २५०, २५६, २५७, २५९, २६०, २६१, २६२ = ६०।

शिखरिणी – ३४, ६७, ७६,९७, १०५, ११५, ११८, ११९, १४७, १४९, १७०, १८५, २००, २२०, २६३ = १६।

हरिणी – ६ ६८, ७५, ८०, ११३, १२९, १५८, १६५, १९२ २२३, २२४, २५२ = १२।

प्रस्तुत ग्रन्थ की आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा सस्कृत भाषा तथा पण्डित टोडरमल जी द्वारा ढूढारी भाषा मे टीकाएँ लिखी गयी है। इन टीकाओ से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ आत्मोद्धार की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत सस्करण मे श्री पण्डित टोडरमलकृत टीका डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी द्वारा खड़ी बोली मे रूपान्तरित की गयी है। इस प्रकार श्लोक का अर्थ जहाँ स्पष्ट नही हो सका, भावार्थ मे उदाहरणो के माध्यम से सरल भाषा मे उसे समझाया गया है।

विषयवस्तु – प्रस्तुत ग्रन्थ के आदि मे दोहा और सवैया छन्दो मे दो पद्य मगलाचरण स्वरूप दिये गये है जिनमे पण्डित टोडरमल जी ने इस ग्रन्थ को – 'जातै मन्दबुद्धि के होत अर्थ भासना' कहकर समझाया है कि यह ग्रन्थ मन्दबुद्धि जीवो के लिए भी उपादेय है। रचनाकार ने तीर्थंकर महावीर को नमन कर भव्यजीवो के मोक्ष के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है (१)[१]। जीवो को दु ख से निकालकर सुख मे पहुँचाना लेखक का लक्ष्य रहा है (२)। उन्होने परामर्श दिया है कि मेरा उपदेश कड़वा प्रतीत होगा पर वह फलकाल मे अवश्य मधुर होगा, कड़वी दवा समझ वह ग्राह्य है (३)। लेखक की भावना जीवो का धर्मबुद्धि से उद्धार करने की रही है (४)। उपदेशक और श्रोता के आवश्यक गुणो को समझाकर (५-७) तथा दु ख का कारण पाप और सुख का कारण धर्म बताकर उन्होने पाप हेय और धर्म उपादेय बताया है (८)।

सुख की प्राप्ति कर्मों के क्षय बिना नही होती और कर्मों के क्षय बिना सम्यक्चारित्र सम्भव नही। सम्यक्चारित्र होता है सम्यग्ज्ञान से और वह होता है उस आगम से जिसकी निष्पत्ति यथार्थ – आप्त –

---

१ कोष्ठक में दी गयी सख्या आत्मानुशासन ग्रन्थ की श्लोक सख्या है।

उपदेशक से होती है। आप्त अठारह दोषो से रहित होता अत आप्त का आश्रय प्राप्त करो (९)। आप्त द्वारा चार आराधनाएँ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप दर्शायी गयी हैं। सुख इन्ही आराधनाओ पर आश्रित है।

चारो आराधनाओ का सम्यग्दर्शन प्रथम सोपान है। वह निसर्गज – (उपदेशादि बिना होने वाला) और अधिगमज – (उपदेशादि से होने वाला) के भेद से दो प्रकार का कहा है। दर्शनमोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न सम्यग्दर्शन क्रमश· औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक है। सम्यग्दर्शन, पच्चीस दोषो - (तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शकादि आठ दोष) से रहित होने पर होता है। इसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कार्यकारी होते हैं (१०)।

उत्पत्ति के भेद से सम्यक्त्व के दस भेद कहे हैं – आप्त की आज्ञा – वचन के श्रद्धान से आज्ञासम्यक्त्व, मोक्षमार्ग का श्रद्धान मार्गसम्यक्त्व, आगमोपदेश मे श्रद्धा – उपदेश सम्यक्त्व, आचारसूत्र-श्रवण से उत्पन्न सूत्रसम्यक्त्व, आगमोपदेश मे श्रद्धा – उपदेश सम्यक्त्व, आचारसूत्र-श्रवण से उत्पन्न सूत्रसम्यक्त्व, नवपदार्थरूप श्रद्धान – परिणति बीजसम्यक्त्व, पदार्थों के सक्षिप्त रूप से उत्पन्न श्रद्धान सक्षेपसम्यक्त्व, द्वादशाङ्ग के श्रवण से उत्पन्न रूचि विस्तारसमयक्त्व, आगम के वचन बिना किसी निमित्त विशेष से प्राप्त अर्थदृष्टि अर्थ सम्यक्त्व, समस्त आगम के अवगाहन से उत्पन्न अवगाढ सम्यक्त्व और केवलज्ञान से अवलोकित पदार्थों मे श्रद्धान – परमावगाढदृष्टि परमावगाढसम्यक्त्व बताया है (११-१४)। सम्यक्त्व रहित क्रियाएँ फलदायी नही होती हैं (१५)।

धर्माचरण सुखी के सुखो मे वृद्धि करता है और दु खी के दु ख दूर करता है (१८)। वह सुख का कारण है (२०)। सुख प्राप्त होने पर धर्म पालते हुए भोग भोगना श्रेयस्कर है। किसान जैसे बीज से अनाज पैदा करता है तो वह बीज सुरक्षित रखता है ऐसे ही धर्माचरण विषयसुख प्राप्त होने पर भी सुरक्षित रखो (२१)। चिन्तामणि तो याचना करने पर फल देता है किन्तु धर्म तो बिना किसी याचना के अचिन्त्य फल देता है (२२)। यह कृत कारित, अनुमोदना तथा प्रत्येक मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से नौ प्रकार से किया जाता है (२५)। लोक का रक्षक धर्म ही है (२६)।

पाप सुखो से भोगने से नही होता। जैसे मीठा भोजन करने से अजीर्ण नही होता। अजीर्ण होता है भोजन की मात्रा का उल्लघन करने से। ऐसे ही पाप होता सुख के कारणभूत धर्म के घातक कार्यों के आरम्भ करने से। कषायादि मे प्रवृत्ति पाप का कारण है (२७)। शिकार करना पापकर्म है। शिकारी क्रूर होते हैं। वे जिनके दाँतो मे तृण है ऐसे मृगो को मारने मे भी नही लजाते। उन्हे दया नही आती (२८-२९)। पिशुनता, दीनता, अभिमान, चोरी, झूठ, हिंसादि पापो को त्यागो (३०)। निश्चय देव ही शरण है (३२)। मोही और विषयान्ध मत बनो। ऐसा सभी प्रकार से ज्ञान-रहित के होता है (३४-३५)। आशाएँ जीर्ण नहीं होती, आशावान भले जीर्ण हो जावे। अत विषयाभिलाषा व्यर्थ है (३६)। दीर्घायु, लक्ष्मी, सुन्दर-देह पूर्वोपार्जित पुण्य का फल है। अत दया, दान, तपादिक से पुण्यार्जन करो (३७)।

परिग्रह छोड़ो। उसके रहते निर्वाण नही (४०)। गृहस्थाश्रम जीव का हितकारी नही (४१)। ज्ञानी ठीक ही कहते हैं - आशा-तृष्णा न मरी, मर-मर गया शरीर। आशा रूप ग्रह के निग्रह से ही सुख सभव है (४२)। यथार्थ मे -

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुख यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञान यत्र नाज्ञान सा गतिर्यत्र नागतिः।।४६।।

अर्थात् धर्म वही है जहाँ अधर्म न हो, सुख वही है जहाँ दु:ख न हो, ज्ञान वही है जहाँ अज्ञान न हो ओर गति वही है जहाँ से पुन: लौटना न पड़े। अत ऐसा उपाय करो कि जन्म-मरण के दु:ख शेष न रहे (४६-४७)।

शरीर से मोह मत कर। वह तो कारागार है (५९)। बन्धु-बान्धव बन्ध के मूल हैं, स्त्री आपदाओ का घर है, पुत्र शत्रुरूप है। यदि सुख चाहता है तो इन परिजनो को तज और धर्म को भज (६०)। समताभाव धारण कर। सर्प के बिल के समान इस देह का भी क्या प्रयोजन है (६१)। वह तो जन्म-मरण से व्याप्त है (६३)। सुखी होना है तो निर्मोही, आशा-तृष्णा से रहित, स्वाधीन मुनियो जैसा आचरण करो (६५-६६)। कहा भी है –

आशाया· ये दासा ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषा दासी, तेषा दासायते लोकाः।।

अर्थात् आशावान समस्त लोक का दास होता है किन्तु जिनकी आशा दासी है उन्हे लोक, दास समान प्रतीत होता है।

आयु प्रत्यक्ष ही रहट की घड़ियो के जल की भाँति गल रही है, काया आयु का अनुगमन कर पतनोन्मुख है, फिर पुत्र, कलत्र, धन-धान्यादि अन्य पदार्थों की क्या बात है ? अत सभी को क्षणभगुर नाशवान जान (७२)। काल अजेय है (७६)। उससे बचाने ससार मे कोई समर्थ नही (७७)। मानवदेह काने गन्ने के समान है जो अन्त मे रसहीन है, मूल मे भोगने योग्य नही और मध्य – यौवनावस्था आपदाओ से घिरी रहती है। अत जैसे गन्ने को बीज रूप कर दे तो उससे मीठे गन्ने उत्पन्न होते है ऐसे ही इस मनुष्य पर्याय को धर्मसाधन तपस्यादि करके परलोक के लिए बीज स्वरूप करे जिससे कि स्वर्ग-मोक्ष के सुख रूप मीठे फल उत्पन्न हो सके (८१)।

वे सत्पुरुष हैं जो विरक्त होकर सम्पदाओ का त्याग कर देते हैं (१०३)। वे त्याग करते हुए न शोक करते हैं और न गर्व करते है (१०४)। स्व-पर जीव की करुणा, दया है, इन्द्रियो और मन को वश मे करना दम (दमन) पर-वस्तुओ मे राग छोड़ना त्याग और वीतरागदशा रूप सुखी होना समाधि है। इनमे प्रवृत्ति करना ही परमपद का मार्ग है (१०७)। जैसे – वायु-प्रवेश देह को निर्मल करता है ऐसे ही परिग्रह-त्याग अजर-अमर करता है (१०८)। मै अकिंचन हूँ ऐसी भावना भी तीन लोक का स्वामी बनाती है (११०)। मनुष्य-पर्याय दुर्लभ है। तपश्चरण, जिसके बिना मुक्ति सभव नही, वह मनुष्य पर्याय से ही सभव है। अत यह पर्याय पाकर तपश्चरण अवश्य करो (१११)। क्योकि तप से ही क्रोधादिक शत्रु जीते जाते है, गुण प्रकट किये जाते है। मोक्ष भी इसी से प्राप्त होता है (११४)। मोक्ष रूप स्वकार्य के लिए सभी परीषह सहना चाहिए (११८)। सयमी ही ऐसा करता है। आरम्भ मे वह दीपक के समान होता है। जैसे दीपक तैलादि की सहायता से ही घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही शास्त्र की सहायता से जीवादि पदार्थों को जानता है पश्चात् मोक्षसाधक स्वभाव से पदार्थों का जानकार हो जाता है (१२०)। आगमज्ञान होने पर अशुभ से शुभ की ओर और शुभ से शुद्ध दशा की ओर बढ़ता है (१२२)। अशुभ राग कुगति का कारण है (१२४)।

तप यदि शास्त्रज्ञान सहित है तो वह नीतियुक्त राज्य से भी बढ़कर कहा है। राज्य छोड़कर तप करना श्रेयस्कार है किन्तु तपश्चरण-त्यागकर राज्य करना लघुता को प्राप्त होना है। तप राज्य से भी विशेष पूज्य है (१३८)। सत्य है गुणो का नाश होने पर स्वयमेव लघुत्व प्राप्त होता है (१३९)। अत मुनिपद धारण कर आचरण हीनता से उसे कलकित मत करो (१४०)। गुरु की कठोर वाणी भी भव्य के मन को वैसे ही प्रफुल्लित करती है जैसे सूर्य की कठोर तप्त किरणे भी कलियो का विकास ही करती हैं (१४२)। सम्यग्दर्शन के उत्पादक गुणो का ग्राही और मिथ्यात्वादि दोषोत्पादक तत्त्वो के त्यागी को श्रेष्ठ ज्ञानी जानो (१४५)। अहित को छोड़ हित की ओर बढ़ो (१४६)।

साधु को गुफाएँ घर स्वरूप होती है, वह दिशा रूपी वस्त्र धारण करता है, आकाश उसकी सवारी होती है, तपश्चरण वृद्धि इष्टभोजन और गुण ही उसकी पत्नी होती है। वह याचक होता है (१५९)। पाने के इच्छुक जीव अधोगति और ऐसी इच्छा से रहित जीव ऊर्ध्वगति पाते हैं (१५४)। निर्धनता ही जिनका धन है और मरना ही जीवन है, तथा ज्ञान ही जिनका एकमात्र नेत्र है। विधाता (कर्म) उनका कुछ नही कर सकता (१६२)। इसी प्रकार आशा रहित का भी कर्म कुछ नही कर पाता (१६३)। मुनि को चाहिए कि वह अन्तरङ्ग शत्रु से आत्मरक्षा करे (१६९), मन रूपी मर्कट को शास्त्र रूपी वृक्ष पर रमावे (१७०)।

प्रत्येक वस्तु एक ही काल मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनो स्वरूप लिये है (१७२)। वस्तु न सर्वथा नित्य है, न क्षणविनाशीक और न ज्ञानमात्र है, न अभाव रूप है। वह तो अनेकान्तात्मक है (१७३)। अध्यात्म का ज्ञाता मुनि पदार्थ जैसे हैं उन्हे उसी रूप मे देखता हुआ राग-द्वेष का निराकरण करके ध्यान करता है (१७७)। कर्मों का क्षय होना निर्जरा है। कर्मों का फल देकर निर्जरित होना सविपाक निर्जरा है और फल दिये बिना कर्मों का निर्जरित होना अविपाक निर्जरा कही जाती है (१७९)। बन्ध राग-द्वेषात्मक भावो से होता है और मोक्ष रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति के अभाव से (१८०)। मोह मोक्ष मे बाधक होता है। जैसे शरीर मे उत्पन्न फोड़ा शरीर को ही दु खदायक होता है ऐसे ही मोह भी अपने अस्तित्व मे प्रकट होकर अपने को ही आकुलता उत्पन्न करता है। अत मोह त्यागो (१८३)। इष्ट-वियोग मे शोक करना उचित नही क्योकि वियोग अवश्यम्भावी होता है (१८५)। देह अदेह होने मे सहायक है। इसे उपवास, अल्पाहार, रसपरित्यागादि रूप तपश्चरण मे नियोजित करे (१९४)। यदि शरीर निरोग होता हुआ दिखाई न दे तो अनशनवृत्ति से उसे त्याग देवे (२०५)। देह अदेह होने मे सहायक है। इसे उपवास, अल्पाहार, रसपरित्यागादि रूप तपश्चरण मे नियोजित करे (१९४)। यदि शरीर निरोग होता हुआ दिखाई न दे तो अनशवृत्ति से उसे त्याग देवे (२०५)। तप करने मे यदि समर्थ नही तो कषायो को जीते (२१२)। क्रोध से किसके कार्य की हानि नही होती क्रोधोदयात् भवति कस्य न कार्यहानि (२१६)। मान त्याज्य है। मान के कारण ही बाहुबली को एक वर्ष तक केवलज्ञान नही हो सका था (२१७)। मायावश स्वर्णमृग बनने से मारीच का यश मलिन हो गया था (२२०) और सुरभि गाय अपनी पूछ के बालो के लोभ मे पड़कर उनके बेल मे उलझ जाने पर खड़ी रह गयी। शिकारी ने आकर उसे मार डाला (२२३)।

मुनि कषायो से ही दूर नही रहते अपितु वे राग-द्वेष से भी दूर रहते हैं। वे सयम के उपकरण पीछी-कमण्डलु मे भी राग नही करते (२२८)। आचार्य गुणभद्र कहते हैं - मोक्षाभिलाषी निवृत्ति का

अभ्यास करे-निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाक्षी (२३५)। निवृत्ति का अर्थ है - रागद्वेष प्रवृत्ति का अभाव (२३७)।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ मे सुख प्राप्ति के लिए चारो आराधनाओ के विभिन्न विषयो को सोदाहरण समझाया गया है। प्रथम आराधना सम्यग्दर्शन की विशद चर्चा की गयी है। गृहस्थाचरण-धर्माचरण के सकेतो से स्पष्ट किया गया है। सम्यक्चारित्र और तपाराधना मुनि-आचरण के द्वारा समझाकर जीवो को आत्मोद्धार की प्रेरणा दी गयी है। कथित विषयवस्तु के मनन और मानने से जीव के दु ख अवश्य दूर होगे और जीवन मे सुख आयेगा।

कृतज्ञता-ज्ञापन – अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी उपाध्यायरत्न श्री १०८ ज्ञानसागर जी मुनिराज 'यथानाम तथागुण' लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं। वे जन-जन की आस्था के केन्द्र हैं। विद्या और विद्वान दोनो ही उन्हे परप्रिय हैं। विद्वत् सगोष्ठियो के माध्यम से उन्होने विद्वानो की प्रतिभा को उजागर किया है। परमादरणीय प्रात स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने जैन विद्या के क्षेत्र मे अभूतपूर्व कार्य किया था। उपाध्याय ज्ञानसागर जी उन्ही के अनुगामी सन्त प्रतीत होते हैं। स्वर्गीय डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य व्यक्तित्व एव कृतित्व, स्व० डॉ० हीरालाल जैन व्यक्तित्व एव कृतित्व, स्व० डॉ० कामताप्रसाद व्यक्तित्व एव कृतित्व स्व० प० जुगलकिशोर मुख्तार व्यक्तित्व एव कृतित्व, स्व० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये व्यक्तित्व और कृतित्व नामक प्रकाशित ग्रन्थ उपाध्यायश्री के विद्वानो के प्रति अनुराग के प्रतीक हैं। श्रुत सवर्द्धन पुरस्कार से सन् २००६ तक ५१ विद्वानो को पुरस्कृत किया जाना उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी की प्रेरणा का ही प्रतिफल है। श्री १००८ जम्बूस्वामी दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कृष्णानगर मथुरा मे श्रमण ज्ञान भारती की स्थापना भी उपाध्यायश्री की प्रेरणा का ही प्रभाव है। सराक जो कभी सरावगी रहे होगे उन्हे जैन धर्म अगीकार कराने मे भी उपाध्यायश्री का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आपकी प्रेरणा से स्थापित प्राच्य श्रमण भारती द्वारा अनेको ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं।

ऐसे रत्नत्रय विभूषित सन्त का शुभाशीर्वाद प्राप्त कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। प्रस्तुत प्रस्तावना उपाध्यायश्री की प्रेरणा का ही फल है। इसमे यदि कही अच्छाई है तो नि सन्देह उसका श्रेय उपाध्यायश्री को ही है यदि कही दोष रह गये हैं तो उनमे लेखक की अल्पज्ञता को ध्यान मे रखकर क्षमा कीजिएगा।

विनीत

परम पूज्य ज्ञानसागर चरण-चरञ्चरीक

– डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

जैन विद्या सस्थान, श्रीमहावीरजी

जिला – करौली (राजस्थान)

विषय-सूची

।। श्रीपरमात्मने नम ।।

आचार्यवर्य श्रीगुणभद्रस्वामिप्रणीत

आत्मानुशासन

(स्वर्गीय पं० टोडरमलजी कृत भाषा टीका के भाषा परिवर्तन सहित)

भाषा टीकाकार का मङ्गलाचरण

(दोहा)

श्री जिनशासन गुरु नमौं, नानाविध सुखकार।
आतमहित उपदेशतैं, करै मंगलाचार।।

(सवैया)

सोहै जिनशासन मे आत्मानुशासन श्रुत, जाकी दु खहारी सुखकारी सॉची शासना,
जाको गुणभद्र कर्त्ता गुणभद्र जाको जानि, भद्र गुणधारी भव्य करत उपासना।
ऐसे सार शास्त्र को प्रकाशे अर्थ जीवनि को, बनै उपकार नाशै मिथ्या भ्रम वासना,
तातै देशभाषा करि अर्थ प्रकाश करौं, जातै मन्दबुद्धिहू के होत अर्थ भासना।।२।।

अथ श्री गुणभद्रस्वामी विषयविमोहित हुए अपने धर्मबन्धु लोकसेन मुनि को सम्बोधित करने के मिस सब जीवो के लिए उपकारी, श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश देने के अभिलाषी होकर, शास्त्र-रचना की निर्विघ्न-समाप्ति आदि अनेक फलो की इच्छा करते हुए तथा अपने इष्टदेव को नमस्कार करते हुए सर्वप्रथम 'लक्ष्मीनिवासनिलय . ' इत्यादि सूत्र कहते हैं–

ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा

(आर्या छन्द)

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलय निधाय हदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम्।।१।।

अर्थ – मै शास्त्रकर्त्ता गुणभद्र, वीर कहिये वर्द्धमान तीर्थङ्कर देव अथवा कर्मरूपी शत्रु का नाश करने मे समर्थ सुभट अथवा विशिष्ट कहिये लक्ष्मी, उसे 'राति' कहिये ग्रहण करे, ऐसे सर्व अरहन्तादिको को अपने हृदय मे अवधारण कर आत्मा को हित रूप शिक्षा देने-वाला 'आत्मानुशासन' नामक शास्त्र कहता हूँ।

इस प्रकार अपने इष्टदेव का ध्यानरूप मङ्गलाचरण कर शास्त्रकर्त्ता ने शास्त्ररचना की प्रतिज्ञा की है। कैसा है वीर? आत्मस्वभावरूप अथवा अतिशय रूप जो लक्ष्मी है, उसके निवास करने का स्थान है, मन्दिर है। और कैसा है ? विलीन कहिये विनष्ट हुआ है, विलय कहिये पाप स्वभाव जिसका, ऐसा है। अविनाशी स्वरूप को प्राप्त हुआ है। इस प्रकार (ग्रन्थकर्त्ता ने) इन विशेषणो के माध्यम से अपने इष्टदेव के 'वीर' नाम की सार्थकता प्रकट की है और उसका सर्वोत्कृष्टपना दर्शाया है।

गुणभद्राचार्य कहते हैं कि यहाँ जो शास्त्र कहूँगा, वह भव्य जीवो के मोक्ष होने के लिए कहूँगा। ग्रन्थरचना मे अन्य किसी प्रकार के मान-लोभादिक का कोई प्रयोजन नही है। जीवो के स्वात्म-हित की अभिलाषा ही उपादेय है।

आगे शास्त्र के अर्थ मे शिष्यो के भय को दूर कर जैसी प्रवृत्ति पायी जाती है वही अङ्ग इसमे है, इस भाव को दर्शाने-वाला 'दु खात् . ' इत्यादि सूत्र कहते है–

दु खहारी सुखकार उपदेश
(आर्या छन्द)

दु.खाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव।।२।।

अर्थ — हे आत्मन् ! तू दु खो से अत्यन्त भयभीत होता है और सब प्रकार से सुख की कामना करता है अत मै भी दु खहारी और सुखकार—ऐसे तेरे अभीप्सित अर्थ (प्रयोजन) का ही उपदेश करता हूँ।

भावार्थ — किसी को ऐसा भय होगा कि श्रीगुरु सुख छुड़ाकर मुझे कोई कष्ट-साधन बतावेगे। इस भय से जो शास्त्रो का अनादर करता है, उसे कहते है कि इस प्रकार का भय मत करो। दु ख को दूर करने का और सुख को प्राप्त करने का तेरा जो अभिप्राय है उसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए मै तुझे सच्चा उपाय बताता हूँ।

आगे कहते है कि यह उपदेशरूप वचन यद्यपि कदाचित् तुझे तत्काल कटु भी लगे तो भी तू उससे डर मत–

कटु उपदेश भी ग्राह्य
(आर्या छन्द)

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटुकिञ्चित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात्।।३।।

अर्थ — यद्यपि कदाचित् इस शास्त्र मे कथित उपदेश तुझे तत्काल कुछ कटु भी लगे तो भी तू उससे डर मत। (यह उपदेश फलकाल मे मधुर है।) जैसे रोगी उग्र कटु औषध से नही डरता।

भावार्थ — जैसे कोई समझदार रोगी दवा लेते समय कड़ुआहट का अनुभव करता है तो भी उससे सुख होने रूप मधुर फल की प्राप्ति होते जान डरता नही है, उसको सादर ग्रहण करता है, उसी प्रकार तू भी सयाना संसारी है अत यदि ग्रहण करते समय इस शास्त्र का उपदेश तुझे कदाचित् असुहावना भी लगे तो भी उससे सुख की प्राप्ति होने रूप मधुर फल जानकर, उससे डर मत, उसको तो आदरपूर्वक ग्रहण करना ही अपेक्षित है।

कोई तर्क करे कि उपदेशदाता तो बहुत हैं अत आपके निष्फल खेद करने से क्या साध्य है? इसका उत्तर देते हैं-

धर्मबुद्धि करुणाशील उपदेशको की दुर्लभता
(आर्या छन्द)

जना घनाश्च वाचाला· सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षव.।।४।।

अर्थ — खोटे उपदेशादिरूप वचन कहने-वाले तथा निरर्थक महन्तता धारण कर उद्धत होने-वाले मनुष्य और मिथ्या गर्जना करने-वाले तथा निरर्थक बादलरूप उठने-वाले मेघ तो सुलभ है (आसानी से मिल जाते हैं) किन्तु ऐसे मनुष्य या मेघ दुर्लभ है कि मनुष्य तो अन्तरङ्ग धर्मबुद्धि से भीगे हो और संसार के दु खो से जीवो का उद्धार करने की इच्छा रखते हो तथा मेघ अन्तरङ्ग जल से आर्द्र हो और अन्नादि उत्पन्न करने से लोक का उद्धार करने के कारणस्वरूप हो।

भावार्थ — उपदेश देने-वाले तो बहुत हैं परन्तु धर्मबुद्धि से जीवो का उद्धार करने की भावना से उपदेश देने-वाले हम जैसे थोड़े हैं अत हमारा उद्यम निरर्थक नही है।

उपदेशदाता किन-किन गुणो से संयुक्त होता है, ऐसा प्रश्न होने पर 'प्राज्ञ' इत्यादि दो श्लोक कहते है-

उपदेशदाता के आवश्यक गुण
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

प्राज्ञ प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदय· प्रव्यक्तलोकस्थिति.,
प्रास्ताश प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर·।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभु परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधि. प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।५।।

अर्थ — ऐसा गणी सभानायक हो तो धर्मकथा कहे। कैसा हो? बुद्धिहीन हो क्योकि बुद्धिहीन के वक्तापना बनता नही। समस्त शास्त्रो के रहस्य का ज्ञाता हो क्योकि नाना अङ्गो को जाने बिना यथार्थ अर्थ प्रकट नही होता। लोकव्यवहारज्ञ हो क्योकि लोकरीति जाने बिना लोकविरुद्ध होने की सम्भावना है। प्रकर्ष रूप से अस्त हुई है आशा जिसके ऐसा हो क्योकि आशार्थी तो (श्रोताओ को) हृदयो को अनुरंजित करना चाहता है, यथार्थ अर्थ का प्ररूपण नही करता । कान्ति से उत्कृष्ट हो क्योकि शोभायमान न होने से महन्तपना सुशोभित नही होता। उपशम परिणामो से युक्त हो क्योकि तीव्र कषाययान सबके लिए अनिष्टकारक होता है और निन्दा का पात्र होता है। प्रश्न होने से पूर्व ही जिसने उत्तर देख लिया हो, ऐसा हो क्योकि स्वय ही प्रश्नोत्तर कर समाधान करे तो श्रोताओ को उपदेश की दृढता हो। प्रचुर प्रश्नो को सहन करने-

वाला हो क्योंकि प्रश्न किये जाने पर यदि खेद-खिन्न होने-वाला हो तो श्रोता प्रश्न नही कर सकते हैं तब उनका सन्देह कैसे दूर हो? (वक्ता) प्रभु हो क्योकि जिसको (श्रोता) अपने से ऊँचा जाने उसी का कहना मानते है। दूसरो के मन का हरण करने-वाला हो क्योकि जो स्वय अशोभनीय हो तो उसकी सीख कोई कैसे माने। गुणो का निधान हो क्योकि गुणो के बिना नायकपना शोभित नही होता। वक्ता के वचन स्पष्ट और मधुर हो, क्योकि स्पष्ट वचनो के बिना तो समझ मे नही आता और मीठा बोले बिना रुचि नही होती। ऐसा गणी हो जो औरो की निन्दा न करता हो तथा स्वय भी दूसरो के द्वारा निन्द्य न हो। इतने गुणो से युक्त उपदेशक धर्मकथा कहने-वाला हो।

भावार्थ – जिसमे (उपरिलिखित) इतने गुण हो वह शास्त्र कहने का अधिकारी होने योग्य है। उपदेशक के आवश्यक गुण–

(हरिणी छन्द)

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्ति. परप्रतिबोधने,
परिणतिरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरु सताम्।।६।।

अर्थ – जिसमे इतने गुण हो वही सत्पुरुषो को उपदेश देने-वाला गुरु हो सकता है। उसे सम्पूर्ण और सन्देहरहित तो शास्त्र का ज्ञान हो। उसकी शुद्ध और दोष रहित यथायोग्य मन-वचन-काय की प्रवृत्ति हो। दूसरो को सम्बोधित करने के जिसके परिणाम हो। जिनमार्ग की प्रवृत्ति कराने की उत्तम विधि मे जिसका बड़ा उद्यम हो। ज्ञानीजनो द्वारा की हुई जिसकी नमन क्रिया हो अथवा वह स्वय अपने से अधिक ज्ञानियो का विनय कर उन्हे नमन करने-वाला हो। उद्धतपने से रहित हो। लोकरीति का ज्ञाता हो, कोमलपना हो, वाञ्छा रहितपना हो और भी ऐसे ही यतीश्वर सम्बन्धी गुण जिसमे हो वही सत्पुरुषो को उपदेश देने-वाला गुरु हो सकता है।

भावार्थ – पूर्वोक्त गुणसहित जो गुरु हो वही सत्पुरुषो का भला कर सकता है अत हमारा भी यही आशीर्वाद है कि ऐसा ही उपदेशदाता गुरु हो। जिससे जीवो का बुरा हो ऐसा उपदेशदाता गुरु किसी के न हो।

उपदेशक ऐसा हो तो शिष्य (श्रोता) कैसा हो? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते है

श्रोता की अनिवार्य योग्यताये

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

भव्य· किं कुशल ममेति विमृशन् दुःखाद्भृश भीतिमान्,
सौख्येषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।

धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन् धर्मकथा श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः।।७।।

अर्थ — जो ऐसा (आगे वर्णित गुणो से युक्त) शिष्य है वही धर्मकथा सुनने का अधिकारी है। कैसा? प्रथम तो भव्य हो क्योकि जिसका भवितव्य भला होने का न हो तो सुनना कैसे कार्यकारी हो? 'मेरा कल्याण किसमे है?' ऐसा विचार करने-वाला हो क्योकि जिसके अपना भला-बुरा होने का विचार ही नही तो फिर वह क्यो किसी की सीख सुने। दु ख से अतिशय भय खाने-वाला हो क्योकि जिसके नरकादिक का डर नही तो फिर वह पाप छोड़ने का शास्त्र किसलिए सुने? सुख का इच्छुक हो क्योकि आगामी सुख चाहे तो धर्म साधन का शास्त्र सुने। श्रवण आदि बुद्धि का विभव धारक हो। सुनने की इच्छा का नाम शुश्रूषा है। सुनने का नाम श्रवण है। मन से जानने का नाम ग्रहण है। न भूलने का नाम धारणा है। विशेष विचार करने का नाम विज्ञान है। प्रश्नोत्तरपूर्वक निर्णय करना ऊहापोह है। तत्त्वश्रद्धान के अभिप्राय का नाम तत्त्वाभिनिवेश है। ऐसे ये सब बुद्धि के गुण हैं, इसके बिना शिष्यपना बनता नही। जो सुखकारी, दयामय, अनुमान और आगम से सिद्ध ऐसे धर्म का श्रवण कर, उस पर विचार कर उसे ग्रहण करने-वाला हो क्योकि ऐसा धर्म ऐसी ही (योग्य) शिष्य के कार्यकारी होता है। जिसका दुराग्रह नष्ट हो गया हो क्योकि हठ से आपाधापी होती है फिर उसको शिक्षा नही लगती।

भावार्थ — जो ऐसे गुणो से युक्त हो वही धर्मकथा के सुनने का अधिकारी हो सकता है उसी का भला होता है। इन गुणो के बिना धर्मकथा श्रवण कार्यकारी नही होता।

ऐसा गुणी शिष्य गुरु के उपदेश से सुख का अभिलाषी होकर धर्मोपार्जन मे ही प्रवृत्ति करे क्योकि ऐसा न्याय है—

पाप से दु ख और धर्म से सुख

(आर्या छन्द)

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्याद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्।।८।।

अर्थ — पाप से दु ख होता है और धर्म से सुख। यह धारणा सब जनो मे भली प्रकार प्रसिद्ध है। सभी ऐसा मानते हैं अथवा कहते हैं। इसलिए सुखार्थी को जिसे सुख चाहिये-पापाचरण छोड़ सदाकाल धर्म का आचरण करना चाहिये।

भावार्थ — पाप का फल दु ख होता है और धर्म का फल सुख, ऐसा केवल हम ही नही कहते है अपितु सभी कहते हैं। इसलिए यदि सुख चाहिये तो पाप-प्रवृत्ति छोड़ धर्माचरण करो।

विशेष सुख-प्राप्ति की अभिलाषा करने-वाले सभी जीव धर्म को अगीकार करते है, अत विचारपूर्वक किसी आप्त यथार्थ उपदेशदाता का ही आश्रय करना चाहिए क्योकि सुख की प्राप्ति का मूल कारण आप्त है। वही कहते हैं-

आप्त ही आश्रय योग्य है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्,
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुते.।
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेप्यत,
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तःश्रयन्तु श्रियै।।९।।

अर्थ – सभी जीव उत्तम सुख की शीघ्र प्राप्ति की इच्छा करते है। यह इच्छा प्रत्यक्ष भासित है। सुख की प्राप्ति सब कर्मों के नाश से होती है क्योकि सुख को रोकने-वाले कर्म है, उनका नाश हुए बिना सुख कैसे हो सकता है। कर्मो का क्षय सम्यक्चारित्र से होता है। अत बुरे आचरण से उत्पन्न कर्म सम्यक् आचरण के बिना कैसे नष्ट हो सकते है। सम्यक्चारित्र ज्ञान से निश्चित होता है। क्योकि ज्ञान के बिना भले-बुरे आचरण का निश्चय कैसे हो सकता है? ज्ञान आगम से होता है। आगम के बिना बुरे-भले का ज्ञान होता नही। आगम अर्थात् श्रुति अर्थप्रकाशक मूल उपदेश के बिना नही होता है इसलिए आगम रचना किसी के अनुसार (आधार पर) होती है। श्रुति आप्त-यथार्थ उपदेशदाता से होती है। उपदेशदाता के अभाव मे उपदेश कैसे हो? आप्त सर्वदोष रहित[1] होता है। वे दोष रागादि हैं क्योकि राग, द्वेष, काम, क्रोध, क्षुधा, निद्रा आदि होने पर यथार्थ उपदेश नही दे सकते। ये ही आप्तपने के घातक दोष हैं। इस प्रकार अनुक्रम कहा। अत जो सत्पुरुष है उन्हे सुखरूप लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए युक्ति से भली प्रकार विचार करके सर्व सुख प्रदाता आप्त का ही आश्रय करना चाहिए।

भावार्थ – जिसे सुख चाहिये उसे पहले विचारपूर्वक आप्त का निश्चय कर उसके द्वारा उपदिष्ट मार्ग को अगीकार करना चाहिए।

उस आप्त की सिद्धि होने पर उस भगवान् आप्त के द्वारा सत्पुरुषो के लिए उपाय स्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आराधनाएँ दर्शायी गई है। उनमे प्रथम आराधना सम्यग्दर्शन के स्वरूप को प्रकट करने-वाला सूत्र कहते हैं-

१ क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया। न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते।। ६ ।। - रत्नकरण्डश्रावकाचार

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा,
संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम्।
निश्चिन्वन् नवसप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां,
सोपान प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना।।१०।।

अर्थ -- श्रद्धान--सम्यग्दर्शन अर्थात् विपरीत अभिप्राय रहित आत्मा का स्वरूप वह 'दो' प्रकार का है। जो उपदेशादि बाह्य निमित्त के बिना होता है वह 'निसगज' है। जो उपदेशादि बाह्य निमित्त से होता है उसे 'अधिगमज' कहते हैं। अथवा वह श्रद्धान 'तीन' प्रकार का हे - जो दर्शनमोह के उपशम से होता है वह 'औपशमिक' है, जो क्षय से होता है, वह 'क्षायिक' है। जो क्षयोपशम से होता है वह 'क्षायोपशमिक' है। अथवा वह श्रद्धान 'दस' प्रकार का है। उसके आज्ञा सम्यक्त्वादि दस भेद कहेगे। पुन वह श्रद्धान कैसा है? मूढता आदि 'पच्चीस दोषो' से सदैव रहित है। लोकमूढता, समयमूढता और देवमूढता के भेद से 'मूढता तीन' प्रकार की होती है। जाति-कुल आदि 'आठ मद' हैं।[१] मिथ्यादर्शन,मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक जीव ये 'छह अनायतन' हैं। अथवा असर्वज्ञ, असर्वज्ञ का स्थान, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञ के ज्ञान युक्त पुरुष, असर्वज्ञ का आचरण, असर्वज्ञ के आचरण सहित पुरुष ये छह अनायतन है। ये सम्यक्त्व के स्थान नही है अत इनको अनायतन कहा जाता है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढदृष्टि इन चार का सद्भाव और उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चारो का अभाव- इस प्रकार ये 'आठ' हुए। इस प्रकार से सम्यग्दर्शन के (३+८+६+८) पच्चीस दोष है। इन दोषो से रहित निर्मल श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। इन दोषो के लगने पर सम्यक्त्व का अभाव होता है अथवा सम्यक्त्व मलिन होता है। पुनश्च वह श्रद्धान कैसा है? सवेगादि गुणो की निर्मलता से वर्द्धमान है और सवेगादि गुण इससे जुड़े हैं। ससार से भयभीत होना अथवा धर्म के फल को देखकर हर्षित होना, उसका नाम सवेग है। आदि शब्द से निन्दा गर्हा आदि जानना। ऐसा श्रद्धान ससार का नाश करने-वाला है। कुमति, कुश्रुत, विभंगरूप तीन अज्ञानो को शुद्धता प्रदान करने-वाला है। कुज्ञान ही सम्यक्त्व होने पर सुज्ञान हो जाते हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य-पाप ये नौ तत्त्व अथवा पुण्य-पाप को आस्रव मे गर्भित करने पर सात तत्त्व होते है उनका यह निश्चय करने-वाला है। पुन. जहाँ से जीव कभी चलायमान न हो ऐसे प्रासाद अर्थात् मोक्ष-मन्दिर को चढने-वाले पण्डित और बुद्धिमान शिष्यो के लिए प्रथम सोपान है।[२] पहले सम्यग्दर्शन होने पर

---

१ ज्ञान पूजा कुलं जाति बलमृद्धिं तपो वपु। अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया ।।२५।। - रत्नकरण्डश्रावकाचार

२ मोक्षमहल की परथम सीढी - छहढाला, दौलतराम।

अन्य साधन (ज्ञान, चारित्र) (कार्यकारी) होते हैं। चार आराधनाओ मे यह प्रथम आराधना है। ऐसा श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ — सम्यग्दर्शन-समीचीन श्रद्धान के स्वरूप अथवा महिमा को जानकर उसे अगीकार करना चाहिये। औपशमिक सम्यक्त्व तो कीचड़ के नीचे बैठ जाने पर ऊपर निर्मल जल की भॉति समझना चाहिए। क्षायिकसम्यक्त्व हरित मणि के समान सर्वथा निर्मल जानो और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उदित होते हुए सूर्य के समान किंचित् रागमल सहित जानना चाहिए।

अब सम्यक्त्व के दस प्रकार बताने के लिए 'आज्ञा' इत्यादि सग्रह रूप सूत्र कहते है–

सम्यक्त्व के दस भेद

(आर्या छन्द)

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्या भवमवपरमावादिगाढे च।।११।।

अर्थ — आज्ञा और मार्ग से उत्पन्न होने-वाले, उपदेश से उत्पन्न होने-वाले, सूत्र और बीज से उत्पन्न होने-वाले, सक्षेप तथा विस्तार और अर्थ से उत्पन्न होने-वाले-ऐसे ये आठ हुए। पुन अव और परमाव है आदि मे जिसके ऐसे गाढ सो अवगाढ और परमावगाढ ये दो हुए, इस प्रकार सम्यक्त्व के कुल भेद जानने चाहिये।

भावार्थ — हेय और उपादेय तत्त्वो मे विपरीत अभिप्राय रहित सम्यक्त्व एक प्रकार का है, उसी के आज्ञादिक आठ कारणो से उत्पन्न होने की अपेक्षा आठ भेद किये हैं तथा ज्ञान की प्रकर्षता के सहकार की विशेषता की अपेक्षा अवगाढ और परमावगाढ ये दो भेद किये है। इस प्रकार ये दस भेद हुए।

आगे इसी के विशेष वर्णन के लिए "आज्ञासम्यक्त्व" इत्यादि तीन काव्य कहते है–

आज्ञा, मार्ग और उपदेश सम्यक्त्व

(स्रग्धरा छन्द)

आज्ञासम्यक्त्वमुक्त यदुतविरुचितं वीतरागाज्ञयैव,
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्ते·।
मार्गश्रद्धानमाहु: पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशिदृष्टि.।।१२।।

अर्थ — हे भव्य! शास्त्र-पठन के बिना ही वीतराग की आज्ञा से, वचन सुनने से ही जो श्रद्धान होता है उसे 'आज्ञा सम्यक्त्व' कहा जाता है। दर्शनमोह के शान्त होने से ग्रन्थ के विस्तार

का श्रवण किये बिना ही बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित कल्याणरूप मोक्षमार्ग का श्रद्धान करना सो 'मार्गश्रद्धान' है। उत्कृष्ट पुरुष तीर्थङ्करादिको के पुराणो के उपदेश से उत्पन्न होने-वाली और जिसकी आदि मे सम्यग्ज्ञान से आगम समुद्र मे प्रवीण पुरुषो कृत उपदेश विद्यमान है ऐसी दृष्टि सो 'उपदेश सम्यक्त्व' है।

सूत्र, बीज और संक्षेप सम्यक्त्व-

(स्रग्धरा छन्द)

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधान.,
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजै·।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधुसंक्षेदृष्टिः।।१३।।

अर्थ — मुनि के योग्य आचरण के विधान को प्रतिपादित करने-वाले आचार सूत्र को सुनकर उत्पन्न होने-वाला श्रद्धान 'सूत्र सम्यक्त्व' है। कई बीज जो गणित ज्ञान मे कारण हैं उनके द्वारा अनुपम दर्शनमोह के उपशम के कारण जिसकी जानने की गति दुष्कर है, ऐसा जो पदार्थों का समूह है, उसकी उपलब्धि-श्रद्धानरूप परिणति जिसके हुई है, ऐसे करणानुयोग के ज्ञानी भव्य के बीज दृष्टि होती है, इसे 'बीज सम्यक्त्व' जानना चाहिए। पदार्थों को सक्षेप रूप मे ही जानकर श्रद्धान को प्राप्त होना सो सक्षेप दृष्टि है। यही 'संक्षेप सम्यक्त्व' है।

विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व-

(स्रग्धरा छन्द)

य· श्रुत्वा द्वादशाङ्गी कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं,
सजातार्थान् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा,
कैवल्या लोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेतिररूढा।।१४।।

अर्थ — हे भव्य! द्वादशांग रूप वाणी को सुनकर उत्पन्न हुए श्रद्धान को तुम विस्तारदृष्टि जानो। यह 'विस्तार सम्यक्त्व' है। जैन शास्त्रो के वचनो के बिना ही किसी अर्थ के निमित्त से उत्पन्न होने वाली दृष्टि अर्थदृष्टि है। इसे 'अर्थ सम्यक्त्व' जानो। अंग और अगबाह्य सहित जैनशास्त्रो के अवगाहन से उत्पन्न होने-वाली अवगाढ दृष्टि है। इसे 'अवगाढ सम्यक्त्व' जानो। केवलज्ञान से अवलोकित पदार्थों मे श्रद्धान परमावगाढदृष्टि रूप मे प्रसिद्ध है। इसे 'परमावगाढ सम्यक्त्व' जानो। इस प्रकार ये दस भेद कहे हैं।

भावार्थ — यहाँ सम्यक्त्व के दस भेद कहे हैं। वीतराग के वचनो ही से उत्पन्न होने-वाला श्रद्धान (१) 'आज्ञा सम्यक्त्व' है। जो मोक्षमार्ग के श्रद्धान से होता है वह (२) 'मार्ग सम्यक्त्व' है। उत्तम पुरुषो के पुराणादिको का श्रवण करने से जो श्रद्धान होता है वह (३) 'उपदेश सम्यक्त्व' है। मुनि की आचार विधि का श्रवण करने से उत्पन्न होने-वाला श्रद्धान (४) 'सूत्र सम्यक्त्व' है। बीजगणितादि के द्वारा करणानुयोग के निमित्त से उत्पन्न होने-वाला श्रद्धान (५) 'बीज सम्यक्त्व' है। सक्षेप रूप में पदार्थो के श्रद्धान से होने-वाला (६) 'सक्षेप सम्यक्त्व' है। द्वादशाग के श्रवण से उत्पन्न होने-वाला श्रद्धान (७) 'विस्तार सम्यक्त्व' है। किन्ही दृष्टादि रूप पदार्थो से उत्पन्न होने-वाला श्रद्धान (८) 'अर्थ सम्यक्त्व' है। श्रुतकेवली के होने-वाला श्रद्धान (९) 'अवगाढ सम्यक्त्व' है। केवलज्ञानी के जो श्रद्धान है वह (१०) 'परमावगाढ सम्यक्त्व' है। इस प्रकार सम्यक्त्व के अन्य निमित्तो से दस भेद समझने चाहिये।

चार प्रकार की आराधनाओ मे सम्यक्त्व की आराधना पहले क्यो की जाती है? ऐसी शका होने पर उत्तर देते है–

सम्यक्त्वपूर्वक क्रियाओ की महत्ता

(आर्या छन्द)

शमबोधवृत्ततपसा पाषाणस्येव गौरवं पुंस·।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम्।।१५।।

अर्थ — यदि किसी पुरुष - आत्मा के मन्द कषाय रूप उपशम परिणाम है, शास्त्राभ्यास रूप ज्ञान है, पापत्यजन रूप चारित्र भी है और अनशनादि रूप तप भी है- इन्ही का महन्तपना है तो वह पाषाण के भार समान है, विशेष फल का देने-वाला नही। और यदि ये ही क्रियाये सम्यक्त्व पूर्वक होवे तो महामणि के गुरुत्व के समान पूजनीक होती है और बहुत फल की देने-वाली तथा महिमा योग्य बनती है।

भावार्थ — जैसे पाषाण की और मणि की यद्यपि एक ही जाति है तथापि कान्ति की विशेषता से पाषाण का बहुत भार हो तो भी उसकी महिमा नही होती और मणि का भार थोड़ा होने पर भी वह महिमाशाली होती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व सम्यक्त्व सहित क्रियाओ की यद्यपि एक ही जाति है फिर भी अभिप्राय की विशेषता से मिथ्यात्व सहित क्रियाओ का बहुत भार (आडम्बर) होवे तो भी उनकी महिमा नही होती जबकि सम्यक्त्व सहित क्रिया का किचित् भी भार हो तो वह बहुत महिमाशाली होती है।

सम्यक्त्वाराधना मे प्रवृत्ति करने-वाले को आराधकता का स्वरूप कहकर उसके भय को दूर करते हुए सूत्र कहते हैं–

अज्ञानी को कोमल धर्म का उपदेश
(आर्या छन्द)

मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य।
बालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते।।१६।।

अर्थ — मिथ्यात्वरूप महारोग सयुक्त तथा हित-अहित की प्राप्ति-अप्राप्ति मे मूर्ख ऐसे बालक के समान तू तेरी यह सुकुमाल (सुकुमार) क्रिया ही करता है

भावार्थ — हे शिष्य! जैसे रोगी हित-अहित को नही जानता, बालकता का (बालक-वत्) कोमल ही प्रतिकार करता है वैसे तू मिथ्यात्व महारोग के कारण हित-अहित को नही पहचानता, बालक के समान अज्ञानी है इसलिए तुझे कोमल धर्म के साधन उपदेश देता हूँ। यहाँ ऐसा रहस्य है कि (१) पुष्ट हो (२) हित-प्राप्ति अथवा अहित नाश का लोभ हो अथवा (३) बड़ी अवस्थावाला हो तो उसे कठोर साधन का उपदेश भी दिया जा सकता है। परन्तु यदि तीनो न हो तब उससे जैसा सध सके वैसा ही साधन बताते है। श्रद्धानवन्त हो अथवा मोक्ष की प्राप्ति और बध के नाश का इच्छुक हो तो कठिन धर्म भी साध सकता है। ये तीनो ही तेरे पास नही है इसलिये तुझसे जैसा सध सकता है उसी सम्यक्त्वादि रूप कोमल धर्म का साधन बताते है।

अब आचार्य अनुक्रम से चारित्राराधना के आराधक के योग्य सुगम अणुव्रत चारित्राराधना को दर्शाने-वाला सूत्र कहते है-

शक्त्यनुसार साधना का उपक्रम
(आर्या छन्द)

विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।
नि·शक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रम श्रेयान्।।१७।।

अर्थ — विषय रूपी विषम भोजन से उत्पन्न हुए मोह रूपी ज्वर के कारण समुत्पन्न तीव्र तृष्णा-वाला तू शक्तिहीन हो गया है अत तेरे लिए अनुक्रम से पेयादि पदार्थ ही कल्याणकारी है।

भावार्थ — जैसे विरुद्ध (अनुचित) आहार से किसी को ज्वर हो गया, उससे उसको बहुत प्यास लगने लगी और शक्ति क्षीण हो गई तो उसके लिए पेय पदार्थ का भोजन ही अनुक्रम से गुणकारी होता है। वह यदि गरिष्ठ भोजन करे और उसे पचे नही तो उलटा रोग बढता है ऐसे ही हे शिष्य! विषय-वासना के कारण तुझे मोह उत्पन्न हुआ है जिससे तुझे पर-पदार्थो की तृष्णा (तीव्र अभिलाषा) उत्पन्न हुई है और आत्म-शक्ति घट गई है, उसके लिए अणुव्रत रूप साधन का अनुक्रम ही गुणकारी है। मुनिपद ग्रहण करे और सधे नही तो उलटा संसार बढता है। अभिप्राय यह है कि जब तक अन्तरङ्ग राग परिणाम रहे तब तक अनुक्रम से थोड़ा-थोड़ा साधन करके धर्माचरण बढाते रहना चाहिये।

अब चारित्राराधना का उपक्रम किसे करना योग्य है, सो कहते हैं–

सुख-दु ख दोनो दशाओ मे धर्माचरण ही विधेय है

(आर्या छन्द)

सुखितस्य दु.खितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्धये दुःखभुजस्तदपघाताय।।१८।।

अर्थ – संसार मे तू सुखी हो अथवा दु खी तुझे धर्म का आचरण ही करना योग्य है। धर्माचरण से सुखी के तो सुख की वृद्धि होगी और दु·ख भोगने-वाले के उस दु ख का नाश होगा।

भावार्थ – जैसे जिसके पास पूँजी होती है उसके लिए भी धन कमाना ही योग्य है और जो कर्जदार हो उसके लिए भी धन कमाना ही योग्य है। पास मे पूँजी हो और कोई धन कमावे तो भी पूँजी की वृद्धि होती है और ऋण हो और धन कमावे तो ऋण का नाश होता है। इसी प्रकार जिसके पुण्योदय से सुख-प्राप्ति हो रही है उसे भी धर्म का आचरण करना ही उचित है। सुखी होने पर धर्म करे तो सुख मे वृद्धि होती है और दु ख की दशा मे धर्माचरण करे तो दु ख का नाश होता है अत सभी अवस्थाओ मे - चाहे सुख की दशा हो अथवा दु ख की - धर्म का साधन ही हितकारी है ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

विषय-सुखो की प्राप्ति धर्माचरण का फल है अत धर्म की रक्षा करने-वाले पुरुषो को विषय-सुख भोगना भी योग्य है, वही कहते है–

धर्माचरण का फल

(आर्या छन्द)

धर्मारामतरूणा फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।
संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम्।।१९।।

अर्थ – पञ्चेन्द्रियो के विषयो के समस्त सुख धर्म रूपी उद्यान के सम्यक्त्व-सयमादि वृक्षो के फल हैं अत तू सभी उपायो से उन वृक्षो की तो रक्षा कर और उनके फलो को ग्रहण कर।

भावार्थ – जैसे जो बुद्धिमान पुरुष है वह बागो के जिन वृक्षो मे उत्तम फल लगते हैं उन वृक्षो की तो रक्षा करता है और उन वृक्षो मे लगे हुए फलों को ग्रहण करता है उसी प्रकार तू विवेकी है तो धर्म के जिन अंगो के सुख रूप फल उत्पन्न होते हैं, उनकी तो रक्षा कर और सुख रूप फल का भोग कर। ऐसा करने से ही सुख का विच्छेद नही होगा। परन्तु विषय-सुखो की प्राप्ति के लिए ही जो धर्माचरण करता है उस जीव के विषय-सुखो का अभाव हो जाता है, ऐसी आशका कर तू धर्म से विमुख मत हो क्योंकि यह न्याय है।

धर्म सुख का कारण है

(आर्या छन्द)

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात् सुखभङ्गभिया मा भूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम्।।२०।।

अर्थ — जो धर्म है वह सुख का कारण है। जो सुख का कारण होता है वह अपने कार्य का विरोधी नही होता। इसलिए सुख का भग होने के भय से धर्म से विमुख मत होओ।

भावार्थ — लोक मे यह प्रसिद्ध है कि जिस कार्य का जो कारण होता है, वह कारण उस कार्य का विरोधी या नाश करने-वाला नही होता। यहाँ सुख तो कार्य है और धर्म कारण है अत धर्म सुख का भग कैसे करेगा? क्योकि सुख तो धर्म का फल है अत अपने फल को आप ही कैसे घाते? अत धर्म का साधन करते हुए 'मेरे सुखो मे भंग होगा' ऐसा भय कर धर्माचरण मे अनादर मत करो। कारण से कार्य की वृद्धि होती ही है। धर्मसाधना करने से सुख की वृद्धि होती ही है ऐसा निश्चय कर धर्माराधना मे प्रीति करना योग्य है।

इसी अर्थ को दृष्टान्त से पुष्ट करते हुए सूत्र कहते हैं-

धर्म का पालन करते हुए भोगो का सेवन

(आर्या छन्द)

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव।।२१।।

अर्थ — जिस जीव ने धर्माराधना से सुख-सम्पदा रूप विभव (ऐश्वर्य) प्राप्त किया है उसे धर्मपालन पूर्वक भोग भोगने चाहिये। जैसे जिस किसान ने बीज से अन्न उत्पन्न किया है वह उस अन्न का बीज अवश्य रखता है।[१]

भावार्थ — जैसे जो अन्न उत्पन्न होता है वह बीज बोने पर उत्पन्न होता है। बीज के बिना खेद-खिन्न होने पर भी अन्न उत्पन्न नही होता। इसलिए समझदार कृषक ऐसा विचार करता है कि मेरे बीज से अन्न उत्पन्न हुआ है सो अन्य भी बीज रखने पर मेरे आगे भी अन्न की प्राप्ति होगी इसलिये बीज को रखकर अन्न को भोगना चाहिए। इसी प्रकार जो सुख प्राप्त होता है वह धर्माचरण करने से ही होता है। धर्म के बिना खेद-खिन्न होने पर भी सुख नही होता। अत तू समझदार है तो ऐसे विचार कर कि जो मुझे धर्म के फल से सुख की प्राप्ति हुई है सो अब भी धर्माराधन से मेरे आगामी सुख की प्राप्ति होगी इसलिए धर्माराधनापूर्वक (धर्म को रखकर) सुख भोगूँ। पुन ऐसा विचार कर कि जैसे धर्म रहे वैसे ही पुण्योदय से उत्पन्न सुख को भोगूँ।

---

१ बीज राख फल भोगवै, ज्यो किसान जगमाहिं। -वैराग्यभावना वज्रनाभिचक्रवर्ती की।

धर्म सेवन से किस फल की प्राप्ति होती है, ऐसा पूछने पर उत्तर देते है-

धर्मसेवन से अद्भुत फल की प्राप्ति

(अनुष्टुप् छन्द)

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं, फलं धर्मादवाप्यते।।२२।।

अर्थ — सकल्प पूर्वक वचनो से याचना करने पर कल्पवृक्ष का फल प्राप्त होता है। इसी तरह मन मे चिन्तन कर याचना करने से चिन्तामणि रत्न का फल प्राप्त होता है परन्तु धर्म से तो असकल्प्य (सकल्प करने योग्य भी नही) और अचिन्त्य ऐसा कोई अद्भुत फल ही प्राप्त होता है।

भावार्थ — लोक मे कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न उत्तम फल के दाता कहे जाते है परन्तु ये तो वचनो से और मन से याचना करने पर किंचित् विषय-सामग्री रूप फल को ही उत्पन्न करते है किन्तु धर्म है सो वचन और मन के अगोचर ऐसे अद्भुत सुख रूप मोक्ष फल को उत्पन्न करता है।[1] अत कल्पवृक्ष और चिन्तामणि से भी धर्म की प्राप्ति श्रेष्ठ जान इसकी साधना मे तत्पर रहना योग्य है।

ऐसा धर्मोपार्जन किस प्रकार किया जाता है? यह पूछने पर कहते है-

परिणामो से ही पुण्य-पाप का अर्जन होता है

(आर्या छन्द)

परिणाममेवकारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञा ।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः।।२३।।

अर्थ — बुद्धिमानो ने निश्चय करके पुण्य-पाप का कारण परिणामो ही को कहा है अत पाप का नाश और पुण्य का सचय भली प्रकार से करना ही योग्य है।

भावार्थ — कोई शरीर की शक्ति न होने से, कोई धन-सपत्ति न होने से, कोई सहायक आदि न होने से धर्मसाधन का होना नही मानते है-सो यह (विचार) भी भ्रम ही है। दूसरे पर दोषारोपण कर उपदेश को निरर्थक मत करो। तुम सुनो-पुण्य और पाप के कारण (हमारे अपने) परिणाम ही हैं। अतः पर का किया पुण्य-पाप नही होता। अपने ही परिणामो से पुण्य-पाप होते है अत अशुभ परिणामो को छोड़ना (चाहिए) और शुभ परिणाम करना (चाहिए)। इस प्रकार तुमको पाप का नाश और पुण्य का सचय करना उचित है।

जो जीव धर्म का सचय न करते हुए विषय-सुखो को भोगते हैं, उनकी निन्दा दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं-

---

१ जाँचत सुर-तरु देय सुख चिन्तन चिन्ता रैन। बिन जाँचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन।। १२ ।। -धर्मभावना भूधरदास।

धर्म का घात करके विषय-सुखो का भोग का अनुचित है

(आर्या छन्द)

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरून्मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः।।२४।।

अर्थ — जो जीव मोह के वशीभूत हुए, धर्म का घात कर विषय-सुखो को भोगते हैं वे पापी जड़ से वृक्षो को छेदकर फलो को ग्रहण करते हैं।

भावार्थ — जैसे कोई पापी फल ही की इच्छा करे परन्तु रौद्र परिणामो से वृक्ष को जड़ से काट कर जो फल हाथ लगे उनको ग्रहण कर ले, वैसे ही मोही जीव सुख की ही तो इच्छा करे परन्तु पापबुद्धि से धर्म का घात कर जो सुख उदय मे आवे उसका भोग कर ले। यहाँ इतना समझना चाहिए कि जैसे वृक्ष को काटो, चाहे रखो पर फल तो जितने प्राप्त होने है उतने ही हाथ लगते है। वृक्ष को काट देने पर आगामी फल की प्राप्ति होगी नही और उसकी रक्षा करने से आगामी फल की प्राप्ति अवश्य होगी। उसी प्रकार धर्म की रक्षा करो, चाहे उसका घात करो, सुख तो जितना उदय मे होना है वही प्राप्त होगा। धर्म का घात करने से आगामी सुख की प्राप्ति होगी नही जबकि रक्षा करने से आगामी सुख की प्राप्ति होती है। यहाँ प्रश्न है-धर्म का घात करके भी सुख का भोगवना कहा है और धर्म की रक्षा करके भी सुख का भोगवना कहा है,उसका उत्तर (देते है) - धर्म के अवसर मे भी पापरूप रहना, अन्याय रूप पाप करना, मिले- प्राप्त हुए विषयो से अधिक विषयो की तृष्णा करनी, कषाय परिणाम तीव्र रखने, इत्यादि प्रवृत्तिपूर्वक विषय-सुखो का भोग करना सो तो धर्म का घात कर सुखो का भोगना जानना चाहिए तथा धर्म के अवसर मे धर्म साधना, अन्याय रूप पाप कार्य न करना, प्राप्त विषयो मे सन्तोष रूप रहना, अधिक कषाय न करनी, इत्यादि प्रवृत्तिपूर्वक कुछ विषय सुखो को भोगना सो धर्म की रक्षा करते हुए सुख का भोगना समझना चाहिए। जहाँ कषाय ही न हो वहाँ विषय-साम्रगी का त्याग करने पर दु ख सामग्री मिले तो भी वहाँ साधक निराकुल ही रहता है। वहाँ परमार्थ धर्म की रक्षा कर परमार्थ सुख का भोग जानना चाहिये।

यहाँ कोई तर्क करे कि ऐसा उपदेश तो छिपाने मात्र के लिए है, यह व्यक्त रूप नही क्योकि विषय-सुखो के भोग मे धर्मोपार्जन करने की सर्वथा असमर्थता है, इसका उत्तर देते है-

नवविधि से धर्माराधना

(आर्या छन्द)

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणवचनेषु।
यः सर्वथाभिगम्य· सः कथं धर्मो न संग्राह्य.।।२५।।

अर्थ – स्वय करना (कर्तापना) सो कृत, हेतु का कर्तापना सो कारित और कर्ता के अभिप्राय के अनुसार अपना अभिप्राय सो अनुमोदन, इन तीनो (कृत, कारित, अनुमोदना) से स्मरण, मनन, आचरण और वचन की (अर्थात् मन, वचन, काय की) क्रिया पूर्वक जो धर्म सब प्रकार से प्राप्त करने योग्य है, उस धर्म का सग्रह क्यो न किया जाए? अर्थात् अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ – जो एक ही प्रकार से धर्म होता हो तो सब विषयो का त्याग करने पर ही धर्म हो सकता है। परन्तु जब तक सब विषयो का त्याग न हो तब तक अनेक प्रकार से थोड़ा-थोड़ा ही सही, धर्म-संचय करना चाहिये। जैसे व्यक्ति अनेक प्रकार के व्यापार कर धन का सग्रह करता है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के धर्म साधनो से धर्म का सचय अवश्य करना चाहिए। धर्म का सचय नौ प्रकार से होता है- मन से धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना। वचन से करना, कराना और अनुमोदना करना। काय से धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना। वचन से धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना। काय से धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना। धर्म के अनेक अङ्ग होते हैं, उनमे से यथाशक्ति जो बन सके वही अवश्य करना चाहिये। एक भी धर्म थोड़ा-बहुत जितना बन सके उतना ही अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार सर्वविधि से धर्म का सचय होता है। अत यह सुलभ है। तू (धर्मसंचय को) कठिन बतला कर निरुद्यमी पुरुष (आलसी, प्रमादी, कामचोर) दरिद्री होकर दु ख पाता है वैसे ही तू भी पुण्यहीन होकर नरकादि कुगतियो मे दु ख प्राप्त करेगा। अत तुझे धर्म का सग्रह करना ही योग्य है।

अब, जीवो के चित्त मे ऐसे धर्म सद्भाव और असद्भाव के फल को दिखाने-वाला सूत्र कहते है–

धर्म ही जगत् का रक्षक है

(वसन्ततिलका छन्द)

धर्मो वसेन्मनसि यावदल स तावत्,
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां,
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव।।२६।।

अर्थ – हे शिष्य! देख, जब तक मन मे पूर्णतया धर्म का निवास है, तब तक अपने मारने-वाले का भी आप मारने-वाला नही होता है और धर्म के न रहने पर पिता-पुत्र मे भी परस्पर घात क्रिया देखी जाती है। अत यह सत्य ही है कि जगत् की रक्षा धर्म से ही होती है।

भावार्थ – धर्मबुद्धि होने पर तो कोई किसी को नही मारता परन्तु धर्मबुद्धि न होने पर वह उसको मार देता है। अत धर्म न हो तो बलवान निर्बल को मारा करे। उससे अधिक बलवान

उसको मारे। इस प्रकार तो सर्व लोक ही नष्ट हो जाएगा। परन्तु लोक मे स्वय ही धर्म की प्रवृत्ति है अत जीवो के परस्पर रक्षा करने के परिणाम भी होते हैं। तिर्यञ्चो (पशु-पक्षियो) को भी बिना प्रयोजन छोटे जीवो को मारते नही देखा जाता है अत लोक का रक्षक धर्म ही है। इस प्रकार जो धर्म लोक का रक्षक है वह उसकी साधना-आराधना करने-वाले का रक्षक कैसे नही होगा? इसलिए अपना भी रक्षक धर्म को ही जान कर उसका सेवन करना योग्य है।

यहाँ एक प्रश्न है-विषय-सुखो को भोगने-वाले प्राणी के पाप ही उत्पन्न हो सकता है, उससे धर्म कैसे हो सकता है? ऐसी आशंका होने पर समाधान करते है-

विषयो मे पाप नही अपितु धर्मघातक आरम्भादि क्रियाओ मे पाप

(आर्या छन्द)

न सुखानुभवात् पापं, पाप तद्धेतुघातकारम्भात्।
नाजीर्ण मिष्टान्नान्नु, तन्मात्राद्यतिक्रमणात्।।२७।।

अर्थ — सुख को भोगने से पाप नही होता अपितु उस सुख का कारणभूत जो धर्म है उसके घात करने-वाले जो कार्य हैं उनका आरम्भ करने से पाप होता है, जैसे- मिष्टान्न का भोजन करने से अजीर्ण नही होता अपितु उस भोजन की मात्रा का उलुघन करने से (आवश्यकता से अधिक खाने से) अजीर्ण होता है।

भावार्थ — जैसे अजीर्ण का हेतु मिष्ट भोजन नही है अपितु आसक्तिपूर्वक अधिक भोजन करना अजीर्ण का कारण है वैसे ही पाप का कारण विषय-सेवन नही अपितु धर्म का घात कर बहुत कषायादिक मे प्रवृत्ति करना सो पाप का कारण है। इन्द्रादिक, देवो, भोग-भूमि के जीवो और तीर्थङ्करादिको के बहुत विषय-सामग्री देखी जाती है, उनका सेवन भी करते हैं परन्तु उससे नरकादिक का कारणभूत पाप बन्ध नही होता। जबकि तन्दुल मत्स्यादिक के बहुत तृष्णा होने के कारण और पर्वतादिक के मिथ्यात्वादिक से बहुत विषय-सेवन किये बिना ही धर्म का घात होने से नरकादिक का कारणभूत पापबन्ध होता है। "मुझसे विषय छूटते नही, विषय छूटे बिना धर्म होता नही", ऐसी आशंका करके धर्म से अरुचि करना उचित नही। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि ऐसी ही बात है तो विषयो को छोड़ कर मुनिपद किसलिए ग्रहण किया जाता है? इनका समाधान यह है कि नरक-तिर्यञ्चादि गति रूप बन्ध के कारणभूत पाप का अभाव तो गृहस्थावस्था मे ही साधन करने से होता है। परन्तु यहाँ (मुनिपद में) स्वर्गादिक का, कारण-परम्परा मोक्ष को सिद्ध करने-वाले धर्म का साधन होता है इसलिए धर्मबुद्धि पूर्वक जो जीव साक्षात् मोक्ष को सिद्ध करना चाहे वह सब विषयो को छोड़कर मुनिपद अंगीकार करता है।

यहाँ कोई तर्क करे कि जो शिकार खेलना आदि हिंसादिरूप कार्य करता है उसके भी धर्म के समान सुख के कारणपने की सिद्धि होती है। जैसे आप धर्म से सुख उत्पन्न होने की बात कहते हो वैसे ही शिकार आदि कार्यो से भी सुख देखा जाता है इसलिये धर्म के घातक आरम्भादि करने से पाप होता है, ऐसा क्यो कहते हो? क्योकि पाप के कारण के सुख के कारणपने का विरोध है अर्थात् जो पाप का कारण है वह सुख का कारण नही हो सकता। इस आशंका का निराकरण करते हुए सूत्र कहते हैं-

पाप-कार्यों का नही, धर्म का सकल्प ही उपादेय है।

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

अप्येतन्मृगयादिक यदि तव प्रत्यक्षदु·खास्पद,
पापैराचित पुरातिभयदं, सौख्याय संकल्पत·।
संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनै-
र्धर्म्ये कर्मणि किं करोति न भवान् लोकद्वयश्रेयसि।।२८।।

अर्थ — जो यह शिकार आदि (पाप) कार्य है सो प्रत्यक्ष ही दु ख का घर है। पापी जीवो के द्वारा आचरित है और आगे भी नरकादि मे बहुत भय देने-वाला है। ऐसा होते हुए भी शिकारादि का सकल्प तेरे मन को उल्लसित करता है इसलिये तेरे सुख का कारण होता है। अपने इस सकल्प को तू धर्म कार्यो मे क्यो नही करता? धर्मकार्य कैसे हैं? कि ये उन जीवो के द्वारा सेवनीक है जिन्हे इन्द्रियसुख उपलब्ध हुए है और बुद्धि रूप धन प्राप्त हुआ है। ये लोक और परलोक दोनो मे कल्याणकारी है।

भावार्थ — शिकारादि कार्य को तू सुख का कारण मानता है जबकि यह प्रत्यक्ष ही दु ख का घर है क्योकि इसमे खेद, क्लेश और आकुलता विशेष होती है, परन्तु तुझे इस कार्य को करने मे उल्लास पैदा होता है अत तेरे मानने मे यह कार्य सुख का कारण है। यदि दु ख का घर ही तेरी मान्यता मे सुख का कारण हो गया तो फिर खेद, क्लेश और आकुलता घटने से प्रत्यक्ष सुख के घर धर्मकार्य मे वैसी मान्यता करे तो वह सुख का कारण क्यो न हो?

शायद तू यह समझता है कि शिकारादि कार्य तो भोगी पुरुषो के करने के है और धर्मकार्य योगीजनो के करने के, सो ऐसा भी नही है। शिकारादि कार्य को तो अहेरी आदि पापी ही करते है और धर्मकार्य को चक्रवर्ती आदि महाभोगी ही आदर देते है। और फिर जिससे आगामी काल मे भला हो उस दु ख मे भी सुख मानते हैं सो शिकार आदि कार्य तो नरकादि के दु ख का ही कारण है जबकि धर्म स्वर्ग और मोक्ष के सुख का कारण है। अत शिकारादि कार्य छोड़कर सुख के लिए धर्म ही अगीकार करना योग्य है।

शिकार खेलने मे आसक्त जीवो की अत्यन्त निर्दयता को दिखाने-वाला सूत्र कहते है-

शिकार घोर क्रूर-कर्म है

(अनुष्टुप् छन्द)

भीतमूर्तिर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिका.।
दन्तलग्नतृणाघ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा।।२९।।

अर्थ – भयभीत है मूर्ति जिसकी, जो सर्वथा अरक्षित है, निर्दोष है, शरीर मात्र धनयुक्त है और जिसके दॉतो मे तिनके लगे हुए हैं ऐसी हिरणी को भी जो मार डालते है तो दूसरो के विषय मे उनकी अदया (क्रूरता) की क्या बात है?

भावार्थ – लोक मे जो राजादिक समर्थ पुरुष हैं वे भी भयभीत को नही मारते हैं, उनको अपनी शरण मे रखते है। पुन जिसका कोई रक्षक न हो, उसको नही मारते है, उस अनाथ की रक्षा ही करते हैं। पुन जिसमे चोरी आदि का कोई दोष न लगा हो, उसे भी नही मारते है, शिष्ट की तो प्रतिपालना ही करते हैं। जिसके पास धन नही हो, उसे भी नही मारते; रक की तो सहायता ही करते हैं। पुन जिसने अपने दॉतो मे तिनका लिया हो उसको भी नही मारते, मान छोड़कर उसे निर्भय करते है। पुन स्त्री का वध नही करते। पुरुषार्थ का धारक स्त्री आदि की हत्या नही करता। इम प्रकार इनमे से एक-एक भी बात जिसके हो उसे मारना उपयुक्त नही। सो हरिणी के सम्बन्ध मे तो ये सभी बाते घटित होती है, उसे भी शिकारी मार डालते है तो फिर अन्य जीवो के सम्बन्ध मे तो उनके मन मे दया कैसे हो? अत शिकारियो को महानिर्दय, महापापी समझना चाहिये।

हिंसा-त्यागरूप व्रत मे दृढता स्थापित कर अब झूठ और चोरी के त्यागरूप व्रत मे दृढपना स्थापित करने हेतु सूत्र कहते है -

पाप छोड़कर व्रताचरण कर

(आर्या छन्द)

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात्।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयश. सुखायार्थम्।।३०।।

अर्थ – दुष्टता, दीनता, कपट, चोरी, असत्य, हिंसा आदि पापो का त्याग कर हे भव्य! तू उभयलोक सम्बन्धी हित का उपार्जन कर। यहॉ प्रयोजन बताते है कि धर्म, अर्थ, यश, सुख और पुण्य के लिए ऐसा कार्य (अव्रतो का त्याग और व्रतो का आचरण) कर।

भावार्थ – झूठ और चोरी मे गर्भित ऐसे दुष्टपने, दीनपने, ठगपने, चोरपने और असत्य बोलने रूप महापाप कार्य त्याग करने योग्य हैं। इनका त्याग इस लोक और परलोक दोनो मे हितकारी है। इनके त्याग से अणुव्रत और महाव्रत रूप धर्म होता है। साथ ही लोक मे विश्वसनीय

होने से धनोपार्जन के निमित्त बनते हैं; लोकविरुद्ध कार्य छोड़ने से यश की प्राप्ति होती है, अकुलता मिटने से या सुख का कारण होने से सुख मिलता है। पुनश्च सातावेदनीयादि पुण्य का बन्ध होता है इसलिये इस लोक और परलोक दोनो मे पापक्रियाओ के त्याग को हितकारी जान कर हे भव्य! तुम व्रताचरण करो।

यहाँ कोई तर्क करे कि जो व्रतियो के भी उपसर्ग, दु ख आवे तब अपनी रक्षा के लिये हिंसा, झूठ आदि पाप कदाचित् बने, इसका समाधान करते हुए सूत्र कहते हैं-

पुण्य ही रक्षक है

(वसन्ततिलका छन्द)

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि,
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै।
सन्तापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः,
पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम्।।३१।।

अर्थ — हे भव्य! तुम पुण्यार्जन करो क्योकि जिसने पुण्य किया उसको अदृष्टपूर्व उपद्रव भी पीड़ित नही करता है अपितु वह उपद्रव ही ऐश्वर्य-विभूति के लिए हो जाता है। समस्त जगत् को सतप्त करने-वाला सूर्य भी कमलो मे विकास रूप लक्ष्मी ही उत्पन्न करता है।

भावार्थ — उपसर्ग दु खदायक कारण है, (किन्तु) वह भी पुण्यवानो को दु ख देने मे समर्थ नही। जैसे सूर्य औरो को तो सतप्त करता है परन्तु कमलो को प्रफुल्लित करता है। अत उपद्रव भी उन्ही को दु ख देता है जिनके पाप का उदय होता है। जिनके पुण्य का उदय होता है उनको तो वह ऐश्वर्य प्रदान करने-वाला हो जाता है। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। जिस उपद्रव के कारण सबको बड़ा दु ख होता है और यदि किसी के पुण्य का उदय हो तो उसके लिये उस उपद्रव मे भी धनादिक का लाभ हो जाता है। इसलिए धर्मात्मा पुरुष उपसर्ग आने पर भी धर्म का त्याग कर हिंसादि पाप रूप प्रवृत्ति नही करते हैं।

यहाँ कोई शका करे कि पुरुषार्थ से ही शत्रुओ को दूर कर उपसर्ग-निवारण किया जा सकता है, पुण्य से कुछ सिद्धि नही, उसका समाधान करने रूप सूत्र कहते है-

दैव ही शरण है, केवल पुरुषार्थ से कुछ नही होता

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्र सुरा. सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारण·।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे,
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग् वृथा पौरुषम्।।३२।।

अर्थ — जिसके बृहस्पति तो मंत्री थे, वज्र हथियार था, देव सैनिक थे, स्वर्ग गढ था, हरि (विष्णु) की कृपा जिसकी सहायक थी, ऐरावत हाथी था - ऐसे आश्चर्यकारी बल से युक्त होते हुए भी इन्द्र सग्राम मे दूसरों से हार गया। अत· निश्चयपूर्वक यह प्रकट है कि दैव ही शरण-सहायक है। वृथा पुरुषार्थ को धिक्कार है, धिक्कार है।

भावार्थ — जो जीव पुरुषार्थ से दु ख-निवारण मानता है और जैसे अपना पुरुषार्थ सधता है वैसे उपाय करता है, उसके लिए कहते हैं - पुरुषार्थ तो निष्फल है। जो पुण्य कर्म है उसी का नाम दैव है, वही सहायक है। उसके होने पर ही पुरुषार्थ कार्यकारी होता है, उसके बिना पुरुषार्थ भी कुछ कार्यकारी नही। वैष्णवमत से यही उदाहरण देते है - जो देवताओ का बलवान् इन्द्र है वह भी दैत्यो से संग्राम में हारा। इसी का जैनमत की अपेक्षा से अर्थ करे तो इन्द्र नाम का विद्याधर हुआ है। उसने अपने मन्त्री का नाम बृहस्पति रखा है, वह भी बहुत पुरुषार्थ से सयुक्त होने पर भी रावण से हारा इसलिए पुरुषार्थ को निरर्थक जानो और पुण्यकर्म को ही कार्यकारी जानो। पुण्यार्जन का साधन करना ही योग्य है।

यहॉ कोई तर्क करे कि हिसादि का त्याग करना देखा नही, उसका आचरण करने-वाले भी असम्भव हैं। पहले जिन्होने आचरण किया उनकी वार्ता मात्र ही सुनने मे आती है - ऐसा कहने-वाले पुरुष को उत्तर देते हैं-

यथार्थ मुनिधर्म के धारक सत्पुरुष आज भी विद्यमान है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

भर्तार· कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं,
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहा.।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये,
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी।।३ ३।।

अर्थ — चिरकालवर्ती महामुनियो के शिष्य उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए आज भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। कैसे हैं वे सत्पुरुष? आप मोह का परित्याग कर 'कुलाचल' के समान पृथ्वी के भर्ता है। जैसे कुलाचल (पर्वत) पृथ्वी को धारण करते हैं फिर भी पृथ्वी के प्रति मोह से रहित है वैसे ही पृथ्वी के जीवो को हित-मार्ग मे लगाकर सन्त पुरुष उनका पोषण करते है फिर भी उन जीवो मे मोहभाव से रहित हैं। और कैसे हैं? 'समुद्र' के समान रत्नो की निधि होते हुए भी जिनके धन की वाछा नही है। जैसे समुद्र मोती आदि रत्नो की खान है और धन की वाञ्छा से रहित है वैसे ही सन्त पुरुष सम्यग्दर्शन आदि रत्नो की खान हैं और धनादिक की वाञ्छा से रहित हैं। और कैसे है? 'आकाश' के समान किसी से भी स्पृष्ट नही है और विभुता जो परम महन्तता है उसके स्वामी होने

के कारण जगत् की विश्रान्ति के कारण है, जैसे आकाश किसी पदार्थ से भी लिप्त नही, अखण्डपने से सारे जगत् के रहने का स्थान है, वैसे ही सन्त पुरुष किन्ही पर-भावो से लिप्त नही होते और महन्तपने से सर्व जगत् का दुःख दूर करने के स्थान हैं। ऐसे अनेक सत्पुरुष आज भी विद्यमान है।

भावार्थ — जिस काल मे[1] इस ग्रन्थ की रचना हुई है उस काल मे यथार्थ- मुनिधर्म के धारक थोड़े जीव रहे गये और शिथिलाचारी बहुत हुए तो यह देखकर किसी ने ऐसा तर्क किया कि मुनिधर्म तो बड़ा कठिन है, उसके आचरण की चौथे काल मे हुई बाते ही सुनाई देती हैं आज, परन्तु कोई आचरण करने-वाला तो दीखता नही। उसको समझाते हैं, कि अब भी यथार्थ मुनिधर्म को धारण करने-वाले कोई-कोई प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते है। तू धर्म का अभाव मान कर अपने शिथिलाचार का पोषण क्यों करता है? किसी क्षेत्र अथवा किसी काल मे धर्मात्मा कम हो या बिल्कुल भी न हो तो भी धर्म का स्वरूप तो यथावत् ही मानना योग्य है।

इन सन्तो के द्वारा आचरित मार्ग से भिन्न आचरण करने-वाला यह लोक ससार की स्थिति को न देखता हुआ क्या-क्या करता है? सो बताते हैं-

मोहान्ध का विपरीत आचरण
(शिखरिणी छन्द)

पिता पुत्रं पुत्र· पितरमभिसंधाय बहुधा,
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम्।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननिदष्ट्रान्तरगतो,
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यमममुम्।।३४।।

अर्थ — मोह के कारण मान लिया है सुख का अश जिसमे ऐसे राजपद को पाने के लिए पिता तो पुत्र को अनेक प्रकार से ठगता है और पुत्र पिता को। अहो बड़ा आश्चर्य है कि मूर्खजन मरण और जन्म रूप डाढ के बीच प्राप्त हुए शरीर का निरन्तर हरण करने-वाले यमराज को भी नही देखते।

भावार्थ — जैसे किसी सिह की डाढो मे फँसा हुआ पशु अपने शरीर को चबाने-वाले सिह का तो विचार करे नही और क्रीड़ा करने का उपाय करे तो बड़ा आश्चर्य होता है उसी प्रकार मनुष्य की जो जन्म-मरण दशा है वह यम की डाढ है। काल के कारण यम की इन डाढो मे फँसा हुआ यह लोक अपनी आयु का हरण करने-वाले काल का तो विचार करता नही है ओर राज्यादिक पद प्राप्त करने के अनेक उपाय करता है, सो यह महान् आश्चर्य है। अत ऐसी मूर्खता छोड़कर यम का चिन्तन (ध्यान) रखते हुए, विषयों की वाञ्छा कदापि करनी योग्य नही है।

---

१ गुणभद्राचार्य का काल विक्रम की नवी शताब्दी का अन्तिम चरण और १०वी शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है।

विषयों में विमुग्ध जीव के पुत्र आदि को मारने रूप अकार्य की प्रवृत्ति होती है, इसमे क्या कारण है? सो बताते हैं –

विषयान्ध ही सबसे बड़ा अन्धा है

(अनुष्टुप् छन्द)

अन्धादयं महानन्धो, विषयान्धीकृतेक्षणः।
चक्षुषाऽन्धो न जानाति, विषयान्धो न केनचित्।।३५।।

अर्थ – विषयों ने अन्धे किये हैं सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र जिसके, ऐसा यह जीव अन्धे से भी महा अन्धा है। यहाँ कारण बताते हैं कि अन्धा तो नेत्रों के द्वारा ही नही जान पाता है जबकि विषयान्ध तो किसी भी प्रकार से नही जानता है।

भावार्थ – अन्धे मनुष्य को तो केवल नेत्रो से ही नही दिखाई देता, मन से विचारना, कानो से सुनना इत्यादि ज्ञान तो उसके होता है। परन्तु जो विषय-वासनाओ के कारण अन्धा हुआ है उसके किसी भी प्रकार से ज्ञान नही हो सकता है। विषय-भोगों मे दु ख (होता हुआ) नेत्रो को प्रत्यक्ष दिखाई देता है, मन मे विचार भी होता है, सीख देने-वाला शिक्षा (सीख) भी सुनाता है- इस प्रकार ये सब ज्ञान होने के कारण बनते हैं परन्तु विषय-वासनाओ मे अन्धा हुआ यह जीव किसी को गिनता नही। अन्ध होना निषिद्ध है उससे भी विषयान्ध होना अतिनिषिद्ध जानना।

आगे कहते हैं कि किञ्चित् विषयाभिलाषा से तेरी उसमे प्रवृत्ति है तो यह विषयाभिलाषा तो सब प्राणियो के है परन्तु वाञ्छा करने से किस-किस के मनोवांछित पदार्थो की सिद्धि हुई है? अर्थात् किसी के भी नही हुई।,

आशा रूपी गड्ढे मे त्रिलोक की सम्पत्ति भी अणु सदृश है

(अनुष्टुप् छन्द)

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।३६।।

अर्थ – अहो जीव! यह आशा रूपी गहरा गड्ढा सभी प्राणियो के है। इसमे तीनो लोको की (ऊर्ध्व, मध्य, अधो) सम्पूर्ण विभूति भी डाल दी जाए तो भी वह अणु समान सूक्ष्म प्रतीत होती है और फिर, यदि तीनो लोकों की विभूति एक ही जीव को प्राप्त हो जावे तो भी उसकी तृष्णा दूर नही होती जबकि कौन कितना-कितना पाता है? अत· तेरी विषयाभिलाषा व्यर्थ है।

भावार्थ – तीनो लोकों की विभूति तो थोड़ी और एक जीव के भी आशा रूप गड्ढा- अगाध। इसमे तीन लोक की विभूति भी भर दी जाए तो वह अणु समान लगेगी। इससे तो एक जीव का भी आशा रूपी गड्ढा कैसे पूर्ण हो सकता है? अत तेरी विषय-वाञ्छा निरर्थक है।

आगे कहते हैं कि इसलिए विषय-सुख का परित्याग कर महान् पुण्योपार्जन निमित्त मुनियो की प्रवृत्ति होती है। विषय-सुख की अभिलाषा करने से भव-भव मे नये-नये शरीर धारण करने पड़ते है इसलिये जो आत्म-कल्याण मे प्रवीण हैं वे विचारपूर्वक आत्म-कार्यों मे ही प्रवृत्ति करते है। यह समस्त प्रभाव है सो पुण्य का ही फल है, सो बताते हैं-

पूर्वोपार्जित पुण्य से प्राप्त भोगसामग्री अत्यासक्ति का निषेध

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आयुः श्रीवपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जित,
स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।
इत्यार्या सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा,
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम्।।३७।।

अर्थ — इस जीव के उत्तमगतियो - देव और मनुष्य मे प्राप्त होने वाली दीर्घायु, लक्ष्मी, सुन्दर शरीर पूर्वोपार्जित पुण्य का फल है। जिसने पुण्य का अर्जन किया है उसी के ये सब होती है और जिसने पुण्य उपार्जित नही किया है तो अनेक उद्यम, श्रम आदि करने पर भी सर्वथा कुछ भी प्राप्त नही होता है। अत· कार्य करने मे प्रवीण पुरुष विचारपूर्वक इस भव के कार्य मे तो मन्दोद्यमी होता है और शीघ्र ही आगामी भव के लिए निरन्तर अत्यन्त प्रयत्न करता है।

भावार्थ — पूर्व भव मे जिसने दया, दान, तपादिक कर विशेष पुण्योपार्जन किया है उसी के दीर्घायु, सुन्दर देह, विभूति आदि होती हैं। जिसने पुण्यार्जन नही किया है वह यदि अधिक उद्यम भी करे, बहुत श्रम करके खेद-खिन्न भी होवे तो भी कुछ उपलब्धि नही होती, ऐसा विचार कर विवेकी पुरुष इस भव के कार्य मे तो मन्द उद्यमी रहता है और शीघ्र ही पर-भव को सुधारने के लिए अत्यन्त प्रीति कर विशेष यत्न करता है।

यहॉ कोई प्रश्न करता है कि इस भव के सुख के साधक विषय तो पूर्व पुण्य के प्रसाद से प्राप्त हो गए, उनमे क्यो मन्द उद्यमी होता है? इसका समाधान करते है-

विषयो से सुख कहाँ?

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना,
यानन्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचि कृत येनाभिमानामृतम्।
आः ज्ञात करणैर्मन· प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्,
कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः।।३८।।

अर्थ — कटु विष के समान जो विषय-भोग उनमे क्या स्वाद है? उनमे तृष्णापूर्वक अत्यन्त

दु:खी के समान भोगने के लिए अपने स्वाभिमान रूप अमृत को मलिन किया सो बड़ा कष्टप्रद है और मन की सेवक जो ये इन्द्रियाँ हैं उनका आज्ञाकारी होकर विषयों में प्रवृत्ति होती है, जैसे - पित्तज्वर ग्रस्त व्यक्ति को वस्तुओ का स्वाद विपरीत लगता है वैसे ही तू सुबुद्धि का धारक होते हुए भी विषयाभिलाषी होकर राग-रस में विपरीत स्वादी हो गया है।

भावार्थ – जैसे पित्तज्वरग्रस्त रोगी को वस्तु का स्वाद विपरीत लगता है वैसे ही तू भी रागज्वर से ग्रस्त होकर विपरीत स्वाद-वाला हुआ है। कटु विष के समान ये विषय-भोग है, इनमे कहाँ स्वाद है? परन्तु तुझे स्वाद-सा लगता है और तू इन्ही को मनोज्ञ जानकर इनकी खोज करता रहता है। ऐसा करके तू महादु:खी होकर अपने महन्ततारूप अमृत को अपवित्र करता है। विषयाभिलाषी के महन्तता रह ही नही पाती।

विषयासक्त होने पर तू किसी भी वस्तु से निवृत्त नही हुआ अर्थात् सभी पदार्थो मे तेरी घोर आसक्ति बनी रही, जो कुछ छूटा सो तेरे भोगने की असमर्थता के कारण छूटा, भावो से तो तू सर्वभक्षी हो गया। वही कहते हैं–

भावो से सर्वभक्षी होना योग्य नही

(अनुष्टुप् छन्द)

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत्।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत्।।३९।।

अर्थ – निवृत्ति से रहित तूने सर्व जगत् की माया को अगीकार करने का अभिलाषी होकर भावो से तो कुछ भी नही छोड़ा और तेरे मुख से जो कुछ बचा सो भोजन की आशक्ति से बचा। जैसे राहु रवि-शशि को निगलने तो लगा पर निगल नही सका इसलिये वे बच गये।

भावार्थ – यह जीव इतना विषयासक्त और तृष्णातुर है सम्पूर्ण जगत् की विभूति और तीन लोक की विषय-सामग्री भी इसे प्राप्त हो जाए तो भी इसकी तृष्णा नही मिटे। जो कुछ बचा हुआ है वह इसकी भोगने की असमर्थता से ही बचा हुआ है। जैसे राहु रवि-शशि को निगल नही सका तो वे बच गये।

दैवयोग से करुणा से परिपूर्ण चित्त वाले और मोक्षलक्ष्मी की अभिलाषा मे हिंसा से निवृत्ति की चाह रखने-वाले ऐसे तुझे बाल्यावस्था ही से परिग्रह का सर्वथा त्याग ही करना अभीष्ट है, ऐसा कहते है–

परिग्रह का त्याग ही निर्वाण का कारण है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात् संसारसार पुन-
स्तत्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवरा: प्राप्ता: श्रियं शाश्वतीम्

त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते,
मा भूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं सम्पाद्य हास्यास्पदम्।।४०।।

अर्थ — हे भव्य! जैसे पुरा काल मे बड़े-बड़े राजाओ मे पुण्योदय से कोई ससार मे सारभूत चक्रवर्ती का पद पाकर, बहुत काल तक उसका भोगकर, फिर त्याग कर शाश्वत निर्वाण सम्पदा को प्राप्त हुए क्योंकि निर्वाण पद का कारण परिग्रह का त्याग ही है इसलिए तू पहले ही परिग्रह का त्याग कर कुमारावस्था मे ही मुनिपद धारण कर। बाल-ब्रह्मचर्य समान और कुछ नही है। यह परिग्रह तो त्यागने योग्य ही है। जिन्होने चक्रवर्ती के ऐश्वर्य को भोगा, उन्होने भी त्यागा, तभी मुक्त हुए। इसलिए जो राज्य नही करते और विवाह नही करते, उनके समान और कोई नही है। अत यदि तेरे यह अभिलाषा है कि जो इन परिग्रहो को पहले ग्रहण कर लूँ और बाद मे तजूँ, तो ऐसी कामना से तो तू 'भेषधारी के लड्डू' की सी कहावत कराके लोक मे अपनी हॅसी मत करावे।

भावार्थ — एक भौतिक वेषधारी भिक्षा के लिए भ्रमण कर रहा था मो किसी ने उसके पात्र मे लड्डू डाल दिये। वह उनको लेकर जा रहा था कि मार्ग मे पॉव मे ठोकर लगने से लड्डू पात्र मे से निकल कर गन्दे स्थान पर जा पड़े तब उसने उन्हे उठाकर वापस अपने पात्र मे रख लिये। ऐसा देखकर किसी ने कहा- "आपने यह अच्छा नही किया, ऐसी गन्दी जगह पर पड़े लड्डू नही उठाने चाहिए थे।" तब वह वेषधारी कहने लगा- 'तुम चुप रहो! मैं लड्डू नही खाऊँगा। परन्तु आश्रम मे ले जाकर धोकर डाल दूँगा।' तब लोगो ने उसकी बहुत हँसी की और कहा - "आप लड्डू खायेगे नही और धोकर डाल देगे तो मलिन जगह से उठाकर पात्र मे ही क्यो रखे? यही पड़े रहने देते?" सो जैसे लड्डुओ को उठाने से उस वेषधारी की हॅसी हुई वैसे ही तू भी कहता है कि मै पहले परिग्रह-सम्पदा भोगूँगा, फिर तजूँगा सो यह माया मलिन स्थान पर पड़े हुए लड्डुओ की भॉति ही है। इसे तो अंगीकार करना ही योग्य नही है। जब त्याग ही करना है इसका तो फिर ग्रहण ही क्यो किया जाए। जिन चक्रवती राजाओ ने राज्य सम्पदा भोगी, उन्होने भी इसका त्याग किया तभी मुक्त हुए अत, तू कुमारावस्था मे ही परिग्रह का त्याग कर ताकि उनसे भी उत्कृष्ट हो सके। जैसे किसी पुरुष के कीचड़ लगा था सो वह उसे धोकर उज्ज्वल हुआ परन्तु जो कीचड़ लगावे ही नही वह तो सर्वोत्कृष्ट है तथा जो कीचड़ लगाकर धोने की इच्छा करे तो वह हॅसी का पात्र ही होवे।

शाश्वती निर्वाण लक्ष्मी के साधक निर्ग्रन्थ मुनि ही हैं। गृहस्थावस्था मे निर्वाण का साधन नही बनता, यही दर्शाते हैं-

गृहस्थाश्रम सर्वथा कल्याणकारी नहीं है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं,
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।

तस्मादेष तदन्धरज्जुवलन स्नानं गजस्याथवा,
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं नहि हितो गेहाश्रम· सर्वथा।।४१।।

अर्थ — यह गृहस्थाश्रम इस जीव का सर्वथा कल्याणकर्ता नही है। जैसे - मतवाला आदमी अनेक उन्मत्त चेष्टाये करता है, वैसे ही यह गृहस्थाश्रम बुद्धिमान् जीवो से भी अनेक चरित्र करवाता है। कभी तो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषध संयुक्त उपवासादिक से इस जीव को केवल धर्ममय ही कर देता है और कभी स्त्री-सेवनादिक से पापमय बना देता है। कभी पूजा, प्रभावना, यात्रा, चैत्य-चैत्यालय निर्माण आदि कार्यों से पुण्य-पाप दोनो रूपमय कर देता है। अत यह गृहस्थाश्रम अन्धे के रस्सी बटने के समान है या फिर गजस्नान के सामान है या बावले पुरुष की सी चेष्टा है।

भावार्थ — यह गृहस्थाश्रम जीव का हितकारी नही है, उन्मत्त पुरुष की चेष्टा के समान है। कभी तो सर्वथा दयारूप, सामायिक, प्रोषध से धर्मोपार्जन ही कराता है और कभी स्त्री-सेवनादिक, श्रृंगारादिक से पापार्जन ही कराता है और कभी पूजा, प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, चैत्यालय निर्माण आदि कार्यो से विशेष पुण्य और अल्प पाप उपार्जित कराता है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम तजने योग्य ही है, कल्याणकारी नही है। जैसे अन्धा रस्सी को बटता है परन्तु वह खुलती चली जाती है और हाथी स्नान करता है फिर अपने सिर पर धूल डाल लेता है इसलिए यह उन्मत्त की चेष्टा ही है।

आगे बताते हैं कि शाश्वत मोक्षलक्ष्मी का साधक ही उपकारी होता है। यह गृहस्थाश्रम मोक्षलक्ष्मी का साधक नही है अत इसमे जीव का कल्याण नही है। इस गृहस्थावस्था मे असि (खड्गवृत्ति), मसि (लेखनवृत्ति), कृषि (खेती) और वाणिज्य (व्यापार) सभी वृत्तियॉ दु ख की ही साधक है। इनमे सुख की साधक कोई नही - ऐसा दृढता से दर्शाते है-

गृहस्थाश्रम मे सुख नही है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ,
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानत.।
तैलं त्व सिकतासु यन्मृगयसे वाञ्छेर्विषाज्जीवितु,
नन्वाशाग्रहानिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत् त्वया।।४२।।

अर्थ — हे जीव! तू इस गृहस्थाश्रम मे सुख के लिये क्यो क्लेश करता है, इसमे सुख नही है। तू हल से भूमि जोतकर बीज बोता है, खड्ग धारण कर राजाओं की सेवा करता है, लेखनवृत्ति कर उद्यम करता है और वाणिज्य-व्यापारवृत्ति कर वनो और समुद्रो मे भी बहुत भटकता है। चिरकाल से अज्ञानपूर्वक ये कष्ट उठा रहा है सो हाय ! हाय ! तू बालू मे तेल खोज रहा है और विषभक्षण कर

जीना चाह रहा है। अहो प्राणी! आशा रूप ग्रह के निग्रह से ही तुझे सुख हो सकता है, तृष्णा से कभी सुख नही मिलता। इस बात को तूने नही जाना अत. अज्ञानी हुआ व्यर्थ परिश्रम करता है।

भावार्थ – गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए असि, मसि, कृषि और वाणिज्य ये ही उपाय हैं - सो ये सब दु.खदायी हैं। इनमे सुख नही। खेती का खेद (परिश्रम) तो प्रकट दिखाई ही देता है। सदा क्लेश, कुग्रामवास, क्रिया की हीनता, मानभंग, स्वचक्र, परचक्र आदि सप्त ईति का भय। खड्गधारी आजीविका हेतु राजा की सेवा करता है, सो राजा की सेवा महाकष्टकारी है। जीविका हेतु जीव ही देना पड़ता है इसमे। व्यापारी व्यापार के लिए जहाज मे बैठकर समुद्रो मे जाते हैं सो कभी जहाज ही डूब जाता है, और महाभयानक वन मे भटकते हैं, सो इनके दु खो का वर्णन कहाँ तक करे ! अनेक प्रकार की हानि-वृद्धि से इनके सदा आकुलता ही रहती है। लेखनीधर भी लेखा करते-करते खेद-खिन्न हो जाते हैं। थोड़े से प्रयोजन के लिए सदा पराधीन बने रहते है। असि, मसि, कृषि और वाणिज्य - इन उपायो से तू सुख की इच्छा करता है तो तेरा यह प्रयत्न बालू रेत मे तेल खोजने के समान निरर्थक ही है, विषभक्षण से जीने की इच्छा समान बेकार ही है। अत तू विपरीत बुद्धि छोड़। यह आशा-तृष्णा रूपी ग्रह तेरे अनादि से लगा हुआ है - इस कारण तूने कभी सुख प्राप्त नही किया। इसका निग्रह करने पर सुख प्राप्त होगा। यह बात तूने आज तक न जानी इसलिए भव-भ्रमण करता रहा।

सुख का उपाय सन्तोष ही है। ग्रन्थो मे जगह-जगह पर आशा का निग्रह करने का ही उपदेश आया है। ऐसा न जानते हुए यह प्राणी विपरीत चेष्टाये करता है - सो बताते है–

असार ससार के भोगो मे सुख नही

(अनुष्टुप् छन्द)

आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जना.।
हा किलैत्य सुखच्छाया दुःखघर्मापनोदिन ।।४३।।

अर्थ – आशारूपी अग्नि से जला हुआ व्यक्ति कनक-कामिनी आदि वस्तुओ को निश्चय से भली जानकर, सुखप्राप्ति और तापनिवृत्ति के लिए आकर बॉस की छाया मे बैठता है सो वृथा है, इससे आतप दूर नही होता।

भावार्थ – बॉसो की छाया तापहारी नही अपितु विघ्नकारी है। बॉस परस्पर रगड़ लगने से जल उठते हैं तो बैठने-वाला भी भस्म हो जाता है। बॉस का गोभा निकल आने पर तत्काल शरीर भिद जाता है। इसी प्रकार विषयो का सेवन करने-वाला इस भव मे तो इनका उपार्जन करने से, सेवन करने से अथवा वियोग से अत्यन्त दु खी होता है। सदैव तृष्णा के कारण व्याकुल रहता है, खेद खिन्न रहता है और पर-भव मे नरक, निगोद को प्राप्त करता है। ये विषय सर्वथा सुखकारी

नहीं हैं। संसारी जीव विवेक के अभाव मे आशारूप अग्नि में जलकर कनक-कामिनी आदि वस्तुओ के सुख के लिए अनुरागी होता है सो इन पदार्थों मे रचमात्र भी सुख नही है। ये भव-भव मे दु ख देने-वाले हैं। इस असार ससार मे सुख कहॉ और किसका? ससार की माया तो बॉस की छाया के समान है, ग्रहण करने योग्य नही है, छोड़ने योग्य ही है।

आगे कहते हैं कि दैययोग से किसी को तुच्छ सुख प्राप्त भी हो जाए तो वह स्थिर नही रहता। दृष्टान्त देकर इस तथ्य को पुष्ट करते हैं–

दैवयोग से कुछ सुख मिल भी जाये तो वह स्थिर नही रहता

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा,
भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छ्रात् सुतुच्छं किल।
क्षारं वायुर्दगात्तदप्युपहतं पूति-कृमिश्रेणिभि.,
शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्ट विधेश्चेष्टितम्।।४४।।

अर्थ – निश्चय से इस तृषातुर जीव की तृषा कभी पूर्ण नही होती। उदयागति कष्टकारी है। कोई पुरुष जल की आशा मे भूमि खोदने लगा सो खोदने पर शिला निकली। तब खोदने-वाला अपने कार्य की सिद्धि हेतु बहुत पाताल पर्यन्त खोदता गया। सो बड़े कष्ट से तुच्छ जल निकला, वह भी खारा, दुर्गन्धित और कृमियो से परिपूर्ण और वह भी तत्काल सूख गया। अत इसके उद्यम से क्या प्रयोजन? उदय की चेष्टा प्रबल है।

भावार्थ – कोई यह जाने कि मै उपाय करके अपने प्रयोजन की सिद्धि करूँ सो पुण्य के उदय बिना उपाय सिद्ध नही होता। इसी कथन को दृष्टान्त से दृढ करते है - किसी एक तृषातुर पुरुष ने जल-प्राप्ति की आशा मे भूमि खोदने का अभ्यास किया, सो खोदने पर शिला निकली। तब खेद-खिन्न होकर उसने और गहरा पाताल तक खोदा। वहॉ रचमात्र जल निकला, सो भी खारा, दुर्गन्धित और लटो-कृमियो से परिपूर्ण और वह भी तत्काल सूख गया। अत इसका किया गया क्या होता है ? उदय की चेष्टा बलवान् है।

यहॉ कोई कहे कि मैं न्यायवृत्ति से अर्थोपार्जन करूँ और सम्पदा की वृद्धि कर सुख भोग करूँ, उसे समझाते है–

न्यायोपात्त धन से कोई धनवान नही हो सकता।

(अनुष्टुप् छन्द)

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदचिदपि सिन्धव।।४५।।

अर्थ — अहो प्राणी ! न्यायोपात्त धन से तो उत्तम पुरुषों के भी सुख-सम्पदा की वृद्धि नही होती, जैसे निर्मल जल से कभी समुद्र नही भरा करते।

भावार्थ — अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही है। योग्य आचरण से उपार्जित धन से विशेष सम्पदा की वृद्धि नही होती। जैसे समुद्र कभी निर्मल जल से परिपूर्ण नही होते हैं इसलिए न्यायोपार्जित धन की भी तृष्णा का त्याग कर सर्वथा निष्परिग्रही बनो।

यहॉ कोई कहे कि जो कुछ भी सम्पदा की वृद्धि होती है उतनी ही होने दो परन्तु यह गृहस्थाश्रम गृहस्थपना धर्म, सुख, ज्ञान और सुगति का साधन तो है, उसे समझाते है-

धर्म, सुख, ज्ञान और गति का यथार्थ स्वरूप

(अनुष्टुप् छन्द)

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागति.।।४६।।

अर्थ — धर्म वही होता है जिसमे अधर्म नही हो, सुख वही होता जिसमे दु ख नही हो। ज्ञान भी वही है जिसमे अज्ञान नही हो और गति वही है जहाँ से पुन लौटना न पड़े।

भावार्थ — जहॉ लेशमात्र भी हिंसादिक पाप है वहॉ धर्म नही हो सकता। जहॉ सक्लेश रूप दु ख है वहॉ सुख नही हो सकता। जहॉ सन्देह रूप अज्ञान है वहॉ ज्ञान नही हो सकता और जहॉ जाकर फिर आना पड़े - जन्म-मरण होवे, वह गति नही हो सकती।

यहॉ कोई शका करे कि ऐसा अविनाशी सुख तो कष्टसाध्य है परन्तु यह धन का उपार्जन तो सुखसाध्य है, इसलिए इसी में प्रवृत्ति करनी चहिए। उसको समझाते हैं-

विषयसुख की अपेक्षा अविनाशी सुख सहज साध्य है

(वसन्ततिलका छन्द)

वार्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्य,
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टितं यदि सकृत् परलोकबुद्ध्या,
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादिदु खम्।।४७।।

अर्थ — हे विषयलम्पट ! विचारशून्य जीव ! तू जो असि, मसि, कृषि और वाणिज्यादि उद्यम करके लोक मे धन कमाने के लिए बारम्बार क्लेश पाता है सो ऐसा उपाय यदि एक बार परलोक के निमित्त करे तो कभी जन्म-मरण के दु ख न पावे। अहो ! तू धन का साधन छोड़ धर्म का साधन कर।

भावार्थ — जो विषयलोलुपी है और जिनमें विचारशक्ति नही है वे खेती आदि उपायो से

धनार्जन के लिये बारम्बार उद्यम करते हैं, श्रीगुरु दयालु होकर भव्य जीवो को उपदेश देते है कि अहो ! धनार्जन के लिए तू बारम्बार जितने क्लेश उठाता है उतना तू एक बार भी परलोक के लिए उद्यम करे तो फिर कभी तुझे जन्म-मरण के दु:ख न उठाने पड़े, तू भवसागर से तिर जाय।

परलोक के उपाय मे दृढता उपजाने हेतु बाह्य पदार्थों से राग-द्वेष छुड़ाने के लिए सूत्र कहते है-

बाह्य पदार्थों से रागद्वेष करना उचित नही

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्म्यको,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासस्य कालं मुहु:।
अन्त:शान्तिमुपैहि यावदऽदयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्-
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान्।।४८।।

अर्थ — हे जीव! तू यथार्थ वस्तु को नही जानता है। यह इष्ट है और यह अनिष्ट है ऐसी कल्पना करके बाह्य वस्तुओ मे बारम्बार आसक्त होकर क्यो व्यर्थ ही काल नष्ट करता है? अन्त करण मे शान्त दशा को प्राप्त कर। जब तक निर्दय काल उदय को प्राप्त नही होता, जब तक उसकी देदीप्यमान ज्वाला से भयानक जो उदराग्नि उसके मुख में तू भस्म नही होता, उससे पहले ही अन्त करण मे रागद्वेष का त्याग कर परम शान्त दशा को प्राप्त कर ले।

भावार्थ — जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप नही जानते हैं वे स्त्री राज्यादिक को भला जानते है और दु ख, दरिद्रता और रोगादिक को बुरा मानते हैं। ऐसी इष्ट (अच्छी) अनिष्ट (बुरी) कल्पना कर बाह्य वस्तुओ मे आसक्त होकर व्यर्थ ही समय गॅवाते है, सो श्रीगुरु भव्य जीवो को उपदेश देने है कि अहो भव्य ! इस इष्ट-अनिष्ट कल्पना को छोड़। बाह्य वस्तुओ मे बारम्बार आसक्त होकर क्यो व्यर्थ ही समय गॅवा रहा है? जब तक तू काल की भयानक जठराग्नि मे भस्म नही होता उससे पहले ही राग-द्वेष को छोड़कर अन्त करण मे शान्त दशा को प्राप्त कर। यह इष्ट-अनिष्ट कल्पना मिथ्या है।

यह आशारूपी नदी तुझे बहाकर भवसागर मे डालती है इसलिए तू उससे तिरने का उपाय कर - सो दर्शाते है-

आशारूपी नदी को तिरने का उपाय

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग ! परवानाशासरित्प्रेरित:,
किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतु क्षम:।
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नोचेद् दुरन्तान्तक -
ग्राहव्याप्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवे:।।४९।।

अर्थ — हे मित्र ! तू पर वस्तु का अभिलाषी होते हुए आशा रूपी नदी से प्रेरित अनादिकाल से अनन्त जन्म धारण करता हुआ अति दूर से आया है - सो क्या तू यह नही जानता है ? यह आशा रूपी नदी और किसी उपाय से नही तिरी जा सकती। इसे तो तू आत्मज्ञान से ही तिरने मे समर्थ है। इसलिए अब शीघ्र ही स्वाधीनता को प्राप्त कर। इस आशा नदी को तैर कर दूसरे किनारे पर जा, नही तो आशा नदी से प्रेरित होकर भवसागर के मध्य डूब जाएगा। कैसा है भवसागर ? विशाल है, जिसका अन्त नही दिखाई देता और जो काल रूप मगरमच्छ जिसने अपना मुँह खोल रखा है उससे संयुक्त होने के कारण और भी भयानक है।

भावार्थ — भोग तृष्णारूप आशा नदी मे तू अनादि काल से बहता चला आ रहा है सो 'आत्मज्ञान' करके ही तू इसको तैरने मे समर्थ हो सकता है और कोई उपाय नही है। ज्ञान से ही आशा मिटती है इसलिए अब पराधीनता छोड़कर शीघ्र ही स्वतन्त्र हो। आशा नदी के पार पहुँच, नही तो ससार-समुद्र मे डूब जाएगा। इस संसार-सागर मे काल रूप ग्राह (मगरमच्छ) अत्यन्त प्रबल है। वह सदैव मुख फाड़े ही रहता है। उसका गम्भीर मुख अत्यन्त विषम है, जगत् को निगल लेता है इसलिए यदि तू काल से बचना चाहता है और भवसागर मे नही पड़ना चाहता तो आशा रूप नदी के पार जा।

आगे कहते हैं कि विषयो की वाञ्छा से व्याकुल हुआ तू अयोग्य (उच्छिष्ट) का ही भोग करता है–

सभी भोगसामग्री स्वय की और पर की उच्छिष्ट है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आस्वाद्याद्य यदुज्झित विषयिभिर्व्यावृतकौतूहलै-
स्तद् भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषत्यप्राप्तपूर्व यथा।
जन्तो ! किं तव शान्तिरस्ति न भवानू यावद्दुराशामिमा-
मंह: संहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्ती हरेत्।।५०।।

अर्थ — इस ससार मे नष्ट हो गया है कौतूहल जिनका ऐसे विषयी जीवो ने भोगकर जो पदार्थ छोड़े हैं तू उनकी ही अभिलाषा करता है। इतना रागी हो गया है, यह मानता है कि मैंने पूर्व मे ये कभी प्राप्त नही किये सो इनको तो तूने अनन्त बार भोगा है और अनन्त जीवो ने अनन्त बार भोगा है सो तुझे इस उच्छिष्ट का भोग करते घृणा नही होती। परायी उच्छिष्ट और अपनी भी उच्छिष्ट से ग्लानि होती है। इन विषयो के भोग से तेरे भी और अन्य जीवो के भी कहाँ शान्ति रहती है, कभी नही। जब तक इस दुराशा - अपराध के समूह रूप प्रबल बैरियो की सेना की वैजयन्ती यानी जीत की ध्वजा के समान जो आशा है, उसको तू नही हरेगा तब तक तेरे शान्ति नही हो सकती।

भावार्थ – शान्ति का मूल आशा का परित्याग है। जब तक अपराध रूप शत्रुओ की सेना की ध्वजा के समान इस आशा का तू हरण नही करेगा तब तक शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? और ये भोग्य विषय-वस्तु जिनको जीवो ने भोग-भोगकर छोड़ा है और तूने भी अनन्त बार भोग कर छोड़ा है तो फिर-फिर इनके सेवन से तुझे ग्लानि नही उत्पन्न होती ? तू तो ऐसा रागी हो गया है, रागपूर्वक इनका भोग करता है मानो ये तुझे पहली बार मिली हो। जगत् की इस माया को, जगत् की उच्छिष्ट को और स्वय तेरी अपनी उच्छिष्ट को क्या सेवन करना, यह तुझे उचित नही।

आगे कहते हैं कि उस आशा का परित्याग न कर तू और क्या-क्या करना चाहता है–

आशा के वशीभूत होने से जीव सभी अकार्य करता है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं,
संमृत्यापि समस्तभीतिकरुणः सर्वं जिघांसुर्मुधा।
यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः,
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः।।५१।।

अर्थ – काले नाग के समान प्राणो को हरण करने-वाले इन भोगो को भोगने का तीव्र अभिलाषी होकर तून अपने होनहार भव को बिगाड़ कर 'अपण्डितमरण' कर सब सुखो का व्यर्थ मे ही घात कर लिया। कैसा है तू ? स्वय अविवेकी, परलोक के भय से रहित, निर्दय, कठोर परिणामी होकर साधुओ के द्वारा निन्द्य वस्तुओ का तू अभिलाषी हो गया है। ऐसे कामी पुरुषो को धिक्कार है। काम, क्रोध रूप महाग्रह के वशीभूत है मन जिसका ऐसा जीव क्या-क्या नही करता अर्थात् सब ही अकार्य करता है

भावार्थ – काले नाग के समान विष से भरे इन भोगो की अति अभिलाषा करके तूने कुगति का बन्ध किया। परलोक का भय नही माना और जीवो पर दया भी नही की सो इस प्रकार व्यर्थमेव तूने अपने सब सुख नष्ट कर लिये। ऐसी बुद्धि को धिक्कार है। साधु-सन्तो, मुनियो ने जिस-जिस वस्तु की निन्दा की तू उसी वस्तु का अभिलाषी हो गया। काम, क्रोध रूप महा भयंकर ग्रहो के वशीभूत होकर तूने क्या-क्या अनर्थ नही किये ? जीवहिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और बहु आरम्भ, धन तथा तृष्णा इत्यादि अनेक पाप किये। अनर्थ के मूल ये विषय-कषाय ही तो हैं।[१]

आगे कहते हैं कि जगत् की स्थिति क्षणभंगुर है सो उसे भी न देखकर तुझे उसके भोगो मे लालसा होती है–

१ आतम के अहित विषय-कषाय। – दर्शनस्तुति दौलतराम

सासारिक विषय-भोग क्षणिक हैं
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

सो यस्याऽजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य सम्पद्यते,
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं,
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं, बद्धस्पृहो भ्राम्यसि।।५२।।

अर्थ – हे भ्रात ! तू भ्रान्ति तज, क्या ऑखो से प्रत्यक्ष नही दिखाई देता है कि यह जगत् कालरूप पवन द्वारा निर्मूल किया जा रहा है। किसी के भी स्थिरता नाम मात्र की भी नही है। जिस दिन का प्रभात होता है वही दिन अस्त को भी प्राप्त होता है। इसलिए तू किस कारण से जगत् मे बारम्बार आशा बॉध कर भटकता है।

भावार्थ – इस ससार का चरित्र क्षणभगुर है। जो पर्याय धारण की जाती है वही नाश को प्राप्त हो जाती है। जैसे दिन के आरम्भ मे प्रात काल होता है,वही दिन सध्या के समय अस्त हो जाता है। काल रूप प्रचण्ड पवन के प्रवाहित रहने से यह सम्पूर्ण जगत् चचल है। बालक, वृद्ध सभी यह जानते हैं, क्या तुझे दिखाई नही देता है ? तू इस असार ससार मे आशा बॉध कर क्यो भ्रमण करता है ? भ्रम छोड़कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को क्यो नही जानता ? विनाशक वस्तु की क्यो इच्छा करता है ?

आगे कहते हैं कि इस प्रकार जगत् के स्वरूप को क्षणभगुर न जानकर तू चतुर्गति रूप ससार मे अनेक प्रकार के दु ख भोगता है-

ससार की क्षणभगुरता न समझने से हानि
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारिण्यल,
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।
तत्तावत् स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै -
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान् निर्धन.।।५३।।

अर्थ – हे जीव ! तूने इस ससार मे नरकादि योनियो मे अत्यन्त घोर दु ख भोगे, जिनका स्मरण करने से ही व्याकुलता उत्पन्न होती है। उन दु खो की बात तो दूर ही रहे, इस नर भव मे ही निर्धन होने के कारण तू अनेक प्रकार के भोगो का अभिलाषी होकर काम से परिपूर्ण स्त्रियो के मन्द हास्य और काम के बाण स्वरूप उनके तीक्ष्ण कटाक्षो से बिधकर दाह के मारे बाल-वृक्ष की सी दशा को प्राप्त हो रहा है, सो इन्ही दु खो का तो विचार कर।

भावार्थ — तू अनादिकाल का अविवेकी है सो जगत् की क्षणभगुर माया से अनुराग कर संसार मे नरक-निगोदादिक मे अनेक दुःखों का भोगने-वाला (भोक्ता) हुआ है। सो उन दु खो की बात तो दूर ही रहे जिनका चिन्तवन करने मात्र से अत्यन्त क्लेश उत्पन्न होता है। तूने जो यह अति दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त किया है उसमे भी विषयो की तृष्णा के कारण रंच भी सुख नही पाया। काम (रतिपति कामदेव) के तीक्ष्ण बाण स्वरूप मदोन्मत्त स्त्रियो के कटाक्षों से पीड़ित हुआ दाह से झुलस जाने-वाले नवीन (उगते) वृक्ष की सी दशा को प्राप्त हुआ है। सो इनका ही (मनुष्य भव के दु.खो का ही) विचार कर जगत् की वाञ्छा से निवृत्त हो। जगत् की वाञ्छा मृगतृष्णा के समान है। जैसे कोई मृग वन मे प्यास से आतुर होकर चमकती हुई बालू को जल जानकर दौड़ता है, परन्तु वहाँ जल न पाकर खेद को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तू भी विषयो की तृष्णा से पीड़ित होकर कनक-कामिनी आदि वस्तुओं को सुख के कारण जानकर वृथा अभिलाषी हो रहा है, वहाँ लेशमात्र भी सुख नही है। क्यो ? क्योकि ये पदार्थ दु ख ही के कारण हैं।

किसी को तो कुछ भी नहीं मिलता इसलिए वह खेद-खिन्न रहता है और यदि कदाचित् किसी को कुछ मिलता भी है तो मनोवाछित न मिलने से वह व्याकुल रहता है। सयोग से कदाचित् कोई मनचाही वस्तु मिल भी जाए तो वह स्थिर नही रहती। इसलिए सदा तृषातुर ही रहना पड़ता है। ये पाँचो ही इन्द्रियाँ जीव को दु ख देने-वाली हैं। जिन्होंने अत्यन्त आसक्त हो एक-एक इन्द्रिय के विषय का भी सेवन किया है,वे भी तृप्त नहीं हुए हैं,अपितु क्लेश और नाश को ही प्राप्त हुए हैं। हाथी तो 'स्पर्शन इन्द्रिय' के अनुराग वश कागज की हथिनी को साक्षात् हथिनी जानकर उसके निकट गया सो खड्डे मे पड़ा अत पराधीन होकर उसने अनेक दु ख भोगे। 'रसना इन्द्रिय' की अभिलाषा से मछली धीवर के जाल मे फँसी, सो उसने अपने प्राण ही गँवाये। 'नासिका इन्द्रिय' के वशीभूत होकर भ्रमर कमल की सुगन्ध से तृप्त न हुआ सो सूर्यास्त के समय कमल मे ही बन्द होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। 'नेत्र इन्द्रिय' के विषय मे आसक्ति के कारण पतंगा दीपक की लौ को मनोज्ञ जानकर उसमे पड़ कर भस्म हो जाता है। 'कर्ण इन्द्रिय' की चाह के वशीभूत होने से राग के अनुरागी हरिण को शिकारी के बाण से अपने प्राण त्यागने पड़ते है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के विषय-सेवन से ये जीव इस दशा को प्राप्त होते है फिर जो पाँचो ही इन्द्रियो के विषयो का आसक्तिपूर्वक सेवन करे तो वह तो भवसमुद्र मे दु ख ही दु.ख प्राप्त करे। इसलिये तू विषयाभिलाषा छोड़ और सुख के कारण वीतराग भाव को स्वीकार कर।

संसार में परिभ्रमण करते हुए तू ऐसे चरित्र अपनी ऑखो से प्रत्यक्ष देखता है, फिर भी तू वैराग्य को प्राप्त क्यो नही होता - सो बताते है–

शरीरादि दोषमय है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

उत्पन्नोऽस्यतिदोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिमान्,
साधिव्याधिरसिप्रहीणचरितोऽस्यऽस्यात्मनो वञ्चकः।
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रस्तोऽसि जन्मिन् ! वृथा,
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारि रहितो किं वासि बद्धस्पृहः।।५४।।

अर्थ – अनन्त जन्म धारण करने-वाले हे अज्ञानी जीव ! तू इस संसार मे अनेक योनियो मे उपजा, तेरा शरीर महादोष रूप धातु और मल से युक्त है, क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो को धारण करने-वाला तू मानसिक चिन्ता और शारीरिक व्याधि से पीड़ित है। अभक्ष्य-भक्षण, अयोग्य आचरण रूप हीनाचार के कारण दुराचारी है। अपने आपको ठगने-वाला है, आत्मप्रवचक है, तू जन्म-मरण के मुख मे पड़ा हुआ है और वृद्धावस्था (जरा) से ग्रसित है। व्यर्थ ही क्यो उन्मत्त हो रहा है ? क्यो आत्म-कल्याण का शत्रु बन रहा है ? क्यो अकल्याण की वाञ्छा कर रखी है तूने ?

भावार्थ – संसार मे शरीर ग्रहण करके ही जीव जन्म धारण करता है। ससार का मूल कारण कुबुद्धि है जो अज्ञानी जीवो के अनादि से लगी हुई है। इसलिये शरीर मे आत्म-बुद्धि करके यह जीव नये-नये शरीर धारण करता है। 'नारकी' का शरीर तो महादु ख रूप है और अनेक रोगो से परिपूर्ण है। 'देवो' का शरीर रोग रहित तो अवश्य है परन्तु मन की चिन्ता (मानसिक चिन्ता) से महादु ख रूप है। 'मनुष्य' और 'तिर्यंच' का शरीर अनेक रोगो का निवास स्थान है और त्रिदोष रूप, सप्त धातुमयी महा अपवित्र है। इनमे मनुष्य का शरीर महामलिन है, मानसिक रोग (आधि) और शरीरिक रोग (व्याधि) दोनो से युक्त है, महादुराचारी, जीवहिंसक, निर्दयपरिणामी, असत्यवादी, परधनहर्ता, परदारासक्त बहु आरम्भी-परिग्रही, परविघ्नसन्तोषी ऐसे शरीर से तू क्यो स्नेह करता है? क्रोध, मान, माया और लोभ के योग से महा अविवेकी तू अपना बुरा आप ही करता है। आत्मघाती हुआ अपने आपको ठगता है। अनेक जन्म-मरण कर चुका है, फिर और करने को उद्यमी है। शरीर जरा से ग्रसित है, तो भी परलोक का भय नही, तू ऐसा उन्मत्त कैसे हो गया है ? अकल्याणरूप प्रवृत्ति कर रहा है सो अपना बैरी आप ही है। अब श्रीगुरु का उपदेश मानकर देह से स्नेह त्याग कर विषय-कषायो से पराङ्मुख हो जा। अनाचार छोड़कर आत्मकल्याण कर ले। बन्ध के कारण- रागादि परिणामो का अभाव कर।

आगे कहते हैं कि तू विषयो मे अनुरागी हो गया है परन्तु ये विषय आत्मा के हितकारी नही हैं। वांछित विषयो की प्राप्ति बिना तू केवल क्लेश ही भोग रहा है–

विषय मे लेशमात्र भी सुख नही
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः,
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोऽक्षवत् क्लिश्यते।।५५।।

अर्थ — विवेक से पराङ्मुख हुआ यह जीव पंचेन्द्रियो से सदैव सन्तप्त रहता है। तृष्णा मे वृद्धि होने के कारण मनोवांछित पदार्थों को न पाकर (उन्हे पाने के लिए) पापरूप अनेक उपाय कर व्याकुल होता है। जैसे जल के समीप दुरन्त दल-दल मे फॅसा दुर्बल बूढा बैल कष्ट भोगता है, (वैसे ही यह भी कष्ट भोगता है।) कैसी हैं ये इन्द्रियॉ ? कि भीषण ग्रीष्म ऋतु मे प्रचण्ड सूर्य की तप्तायमान किरण के समान सन्ताप करने वाली हैं।

भावार्थ — जैसे ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की प्रज्वलित किरण तृषा को बढ़ाने-वाली होती है, वैसे ही इन प्रज्वलित इन्द्रियो से बढ गई है तृष्णा जिसके, ऐसा यह अविवेकी प्राणी मनचाहे पदार्थो को न पाकर अत्यन्त व्याकुल होता है। जैसे कोई बूढा, दुर्बल बैल तृषातुर होकर जल पीने के लिये सरोवर के किनारे जाता है परन्तु जल तक नही पहुँच पाता क्योकि बीच मे ही विषम कर्दम (कीचड़) मे फँस जाता है और क्लेश भोगता रहता है, वैसे ही विषयाभिलाषी जीव उद्यम करके मनोवाछित विषयो को न पाकर दु खी होता रहता है। विषयो की तृष्णा महाक्लेशकारी है। इस तृष्णा का उपशमन ज्ञानामृत से ही हो सकता है।

यहॉ कोई प्रश्न करे कि जिन जीवो को मनचाहे विषयो की प्राप्ति नही होती, वे क्लेश भोगते रहते हैं, यह बात तो प्रमाण मान ली परन्तु इन्द्र-चक्रवर्ती आदि के तो विषयो की पूर्णता है, अत उनके तो क्लेशो की शान्ति होगी? ऐसे प्रश्न-कर्ता को समझाते है–

विषयसामग्री प्राप्त होने पर भी सुख नही
(अनुष्टुप् छन्द)

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कट·।।५६।।

अर्थ — अहो भव्य जीव ! ईंधन मिलते रहने पर अग्नि प्रज्वलित रहती है और उसके न मिलने पर बुझ जाती है। परन्तु यह मोह रूप अग्नि तो (इस सामान्य अग्नि से) अत्यन्त प्रबल है। (कैसे?) परिग्रह रूपी ईंधन के योग से यह मोहाग्नि तृष्णा रूप हो जाती है और परिग्रह की प्राप्ति न होने पर व्याकुलता रूप प्रज्वलित रहती है। अर्थात् यह दोनो दशाओ मे (परिग्रह रूपी ईंधन मिलने पर भी और न मिलने पर भी) प्रज्वलित रहती है। अत· मोहाग्नि के समान और कोई अग्नि नही।

भावार्थ — सामान्य अग्नि तो ईंधन के योग से अर्थात् ईंधन बराबर मिलता रहे तो प्रज्वलित रहती है और न मिलने पर बुझ जाती है। परन्तु यह मोहाग्नि तो दोनो दशाओ मे ही जलती रहती है - परिग्रह के बढने पर यह तृष्णा रूप होकर जलती है और परिग्रह के घटने पर व्याकुलता रूप होकर जलती है। जब असाता का उदय होने पर कुछ प्राप्त नही होता तब यह जीव दुःखी होता है और साता के उदय आने पर कुछ प्राप्त होता है तो इसकी तृष्णा बढती जाती है - सौ से हजार, हजार से लाख इस प्रकार कई गुना बढ़ती जाती है। सन्तोष के बिना सुख की प्राप्ति नही होती। अत मोहाग्नि तो दोनो प्रकार से दाहक ही है। कोई विवेकी जीव शान्त भाव रूप जल से इसे उपशमित करे तो सुखी हो सकता है।

आगे कहते हैं कि विषय-सुख के साधक-स्त्री आदि पदार्थों मे प्रवृत्ति मोह के माहात्म्य से होती है। यहाँ मोह का निद्रा रूप में वर्णन करते है–

'मोह-नीद के जोर, जगवासी घूमे सदा'

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

किं मर्माण्यभिदन्न भीकरतरो दुष्कर्मगर्मुद्गणः,
किं दुःखज्वलनाबलीविलसितैर्नालेढि देहश्चिरम्।
किं गर्जद्यमतूर्यभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयन्,
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः।।५७।।

अर्थ — क्या इस जीव के मर्म को भेदने-वाला पाप कर्मरूपी मुद्गर अत्यन्त भयकारी नही है? सर्वथा भयकारी ही है। अथवा क्या दुःखरूपी अग्नि-पक्ति (एक के बाद एक दु ख) के प्रज्वलित होने से यह देह नही जलती है? अपितु जलती ही है। अथवा क्या यह जीव यमराज के गर्जना करते हुए वादित्र (बाजे) के भीषण रव को नही सुनता है? अपितु सदा सुनता ही है। फिर भी न जाने किस कारण से यह मूर्खजन अकल्याणरूप मोहनिद्रा का त्याग नही करता है?

भावार्थ — जो कोई महानिद्रा के वशीभूत होता है वह भी इतने कारण पाकर तो जाग्रत हो जाता है। यदि कोई मर्मस्थल पर मुद्गर की चोट करे तो नीद जाती रहे अथवा शरीर को अग्नि का ताप लगे तो भी नीद उड़ जाती है तथा बाजो का निनाद सुनाई पड़े तो भी नीद चली जाती है, परन्तु यह अविवेकी जीव पापकर्म के उदयरूप मुद्गर से मर्मस्थल पर मारा जाता है, दु ख रूप अग्नि से इसकी देह जलती है और 'आज यह मरा' ये शब्द यम के वादित्रो के नाद रूप निरन्तर सुनता रहता है तो भी इस अकल्याणकारिणी मोहनिद्रा का परित्याग नही करता, यह बड़ा आश्चर्य है।

मोहजनित निद्रा के वशीभूत हुआ यह जीव दु.ख रूप असार संसार मे प्रीति करता है, सो बताते हैं–

ससार, शरीर, भोगो में प्रीति का कारण मोह है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम्।
निद्राविश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,
जन्मिन् ! जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत्।।५८।।

अर्थ — जन्म-मरण के धारण करने-वाले हे जीव ! तुझे ससार में निश्चयपूर्वक इतने दु ख है फिर भी तू संसार मे ही अनुराग करता है, सो यह बड़े आश्चर्य की बात है। कौन-कौन से दु.ख हैं ? जरा उन पर विचार तो कर। प्रथम तो महाक्लेश का कारणभूत तेरा शरीर है, उससे तेरा सम्बन्ध है। तू सदैव एक देह से दूसरे देह मे गमन करता रहता है और पापकर्म के फल-दु·ख सदा भोगता रहता है। समय-समय पर कर्म-प्रकृतियो द्वारा दृढ़ता से बाँधा जाता है, यही व्यापार है। नीद मे विश्राम करता है, काल मे भयभीत होता है और निश्चयापेक्षा निरन्तर मरता है।

भावार्थ — सामान्यत· जगत् की ऐसी रीति है कि जो कोई दु ख का स्थानक हो तो वहाँ कोई नही रमता अर्थात् उसमे प्रीति नही करता। सो यह संसार-सागर महादु·ख का घर है, तू इसमे रमण करता है। शरीर का धारण करना भी महादु·खपूर्ण है। मनुष्य की देह सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। जिससे मुक्ति होती है, उसकी भी ऐसी दशा है। प्रथम तो इसकी उत्पत्ति पिता के वीर्य और माँ के रज से होती हैं। फिर महाअशुचि गर्भ मे औंधे मुख रहना पड़ता है, वहाँ गर्भ की गर्मी सहने आदि के नाना प्रकार के दु·ख भोगने पड़ते हैं। गर्भ से निकलने मे भी महादु ख का अनुभव होता है। फिर बालदशा मे अज्ञानी होने से कुछ सुधि नही रहती है, युवावस्था मे काम, क्रोध, लोभ, मान, माया, मोहादिक अनेक विकारो से सदा व्याकुलता बनी रहती हे, वृद्धावस्था मे शिथिलता दु खी करती है। कदाचित् देवगति मे जन्म लेने पर देव का शरीर पाया तो उसमे भी मानसिक दु ख भोगने पड़े, बड़ी ऋद्धि के धारी देवो को देखकर अपने को हीन मानकर दु खी हुआ, अपनी देवांगनाओ को तथा और देवो को मरते देखकर दु खी हुआ, स्वय की मृत्यु निकट आवे तब तो अत्यन्त दु·खी होता है।

तिर्यञ्च गति के अनेक दु·ख तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देते हैं। नारकियो के दु ख की क्या कथा ? वह तो (नरक तो) दु.खपूर्ण है ही। नारकियो को छेदन-भेदन, ताडन-तापनादि शरीर के दु ख, मन को महाक्लेश तथा क्षेत्रजनित शीत, उष्ण, दुर्गन्धादिक का दु ख और सकल रोगो का दु ख होता है। पारस्परिक दु·ख और तीसरे नरक तक असुरकुमारो द्वारा दिये जाने-वाले दु·खो को कहाँ तक कहे ? शरीर दु ख ही का निवास है।

सदैव पापकर्मों का फल-दु.ख भोगना, समय-समय पर कर्म प्रकृतियो द्वारा दृढता से बॅधना, निद्रा मे बेसुध होना, आयु के अन्त मे मरना – इतने दु.खो मे भी सुख मानना – सो बड़ा आश्चर्य है। इसलिये इन दु·खो से उदास होकर सुख की मूल जो जगत् से विरक्ति की वृत्ति है, उसे अंगीकार कर।

जिस शरीर से एकता मानकर तू अनुराग करता है, वह कैसा है ? सो बताते हैं –

शरीर कारागृह है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

अस्थिस्थूलतलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि ,
चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्त खलैः।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालय,
कारागारमवेहि ते हतमते ! प्रीति वृथा मा कृथाः।।५९।।

अर्थ – हे बुद्धिहीन ! तेरा यह शरीर रूप घर कारागार के समान है। इससे व्यर्थ प्रीति मत कर। कैसा है यह शरीर रूप कारागृह - अस्थि रूप स्थूल पाषाणो के समूह से घड़ा गया (निर्मित) है। नसो के जाल रूप बन्धन से वेष्टित है। त्वचा रूप चमड़े से आच्छादित है। रुधिर से आर्द्र किये हुए मास से लिप्त है। दुष्कर्म रूप शत्रुओ ने इसे बनाया है तथा आयु कर्म रूप मोटी बेड़ी से युक्त है।

भावार्थ – बन्दीगृह यानी जेलखाने के समान कोई और दु ख का कारण नही है। सो जेलखाना तो स्थूल पत्थरो के समूह से घड़ा जाता है (बनाया जाता है) और यह शरीर हड्डियो से घड़ा गया है। बन्दीगृह बन्धनो से वेष्टित होता है सो यह शरीर नसो के समूह से वेष्टित है। बन्दीगृह भी ऊपर से आच्छादित होता है तो यह शरीर रूपी बन्दीगृह चर्म से आच्छादित है तथा रुधिर सहित मास से लीपा गया है। बन्दीगृह को दुष्टो ने बनाया है और यह शरीर रूप बन्दीगृह दुष्ट कर्मरूप शत्रुओ ने निर्मित किया है। वह बेड़ियो सहित है तो यह शरीर भी आयु रूपी बेड़ी सहित है। अत ऐसा कौन कुबुद्धि है जो बन्दीगृह से प्रेम करे ? तू महा निर्बुद्धि है जो शरीर रूपी कैदखाने से प्रेम करता है। उससे तेरी प्रीति उचित नही।

शरीर तो बन्दीगृह है तथा अन्य और भी पदार्थ-घर-कुटुम्बादि जिनसे तेरी परम प्रीति है, सो कैसे है– यह बताते है –

शरीर की भाँति घर, परिवार सभी दु ख के कारण है

(मालिनी छन्द)

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूल,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।

विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्,
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामा·।।६०।।

अर्थ — घर शरणरहित है, वहाँ तुझे कोई बचाने-वाला नही है। बन्धु-बान्धव सब बन्ध के मूल हैं। जिससे तेरा अति परिचय है ऐसी जो स्त्री सो आपदा रूप घर का द्वार है। ये पुत्र तेरे शत्रु हैं। सारा परिवार ही दु ख का कारण है। ऐसा विचार कर तू इन सबको तज, छोड़। यदि सुख का अभिलाषी है तो निर्मल धर्म को भज।

भावार्थ — इस असार ससार मे तूने क्या सार समझा ? जिस-जिस वस्तु से तू राग करता है, वह सब-दु.ख की मूल है। घर तो शरणरहित है, जहाँ कोई रक्षक नही है, अनेक उपाधियो का मूल है वह। ये बन्धु-बान्धव बन्ध(न) के ही कारण हैं। इस भव मे और परभव मे भी दु खदायी है। तू अपनी स्त्री को पूर्णत अपनी जानता-मानता है सो वह विपत्ति के घर की द्वार है। तू पुत्र को अत्यन्त प्रिय जानता है वह तेरा शत्रु है, क्योकि जब जन्म लेता है तब तो स्त्री के यौवन का हरण कर लेता है, शिशु-बालक होता है तब मिष्ट भोजन बँटा लेता है और जब समर्थ हो जाता है तो धन का हरण करता है अत· पुत्र के समान और कोई शत्रु नही है।[१] इसलिए तू इन सबका त्याग कर। यदि सुख का इच्छुक है तो एक निर्मल जिनधर्म की उपासना कर, उसी को भज।

यहाँ कोई तर्क करे कि ये घर आदिक तो हमारे उपकारी नही परन्तु धन तो उपकारी होगा, उसका समाधान करते है-

सुखाभिलाषी को समभाव प्राप्त करना चाहिए
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः,
सम्बन्धेन किमङ्ग ! शश्वदशुभै· सबन्धिभिर्बन्धुभि·।
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा,
देहिन् याहि सुखाय ते सममभु मा गाः प्रमाद मुधा।।६१।।

अर्थ — हे प्राणी ! तू वृथा ही प्रमाद को मत प्राप्त हो। सुख के लिए तू समभाव को प्राप्त कर। तुझे इस धन से क्या प्रयोजन ? कैसा है यह धन ? कि आशा रूप अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए यह ईंधन के समान है। और हे मित्र ! निरन्तर पाप का उपार्जन करने-वाले ये तेरे सम्बन्धी और बन्धु हैं, इनका ममत्व करने से क्या लाभ ? और महामोह रूप सर्प के बिल समान इस देह से भी तेरी क्या सिद्धि ? अथवा घर से भी क्या ? सुख के लिए तो तू केवल समभाव को प्राप्त कर। व्यर्थ ही प्रमादी होकर रागादि भाव रूप परिणमन मत कर।

---

१ जाओ हरइ कलत्तं, बड्ढन्तो बड्ढिमा हरई। अत्थ हरइ समत्थो, पुत्तसमो वैरिओ णत्थि।।

भावार्थ – इस जीव को दु ख के कारण रागादिक भाव है और सुख का कारण एक समभाव है, इसी बात को दृढ करने के लिए श्रीगुरु भव्य जीवो को उपदेश देते हैं– हे मित्र ! शरीर, धन, भाई, पुत्र, परिवार, घर और सब सम्बन्धी दु·ख ही के कारण हैं, इनमे मुख नही। यदि तू सुख-प्राप्ति का इच्छुक है तो प्रमादी मत बन। समभाव को प्राप्त कर। लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, बैरी-बन्धु, राव-रङ्क, सम्पदा-आपदा सबको समान जान।

समभाव को दृढ करने के लिये राज्यलक्ष्मी भी त्याज्य है, ऐसा कहते हैं –

राज्यलक्ष्मी त्याज्य है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं,
रक्षाध्यक्षभुजासिपाञ्जरवृता सामन्तसरक्षिता।
लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा ! पश्यतां नश्यति,
प्राय: पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काऽशा नृणाम्।।६२।।

अर्थ – हाय ! हाय !! यह राजाओ की लक्ष्मी दीपशिखा के समान बहुलता से चचल ढुरते चमरो की पवन से मानो देखते-देखते नष्ट हो जाती है। जब राज्यलक्ष्मी (जो विपुल है) की ही यह दशा है तो सामान्य मनुष्यो के और लक्ष्मी के रहने की क्या आशा ? इस राज्य लक्ष्मी को चचल जानकर पहले ही बलवान् पुरुषो द्वारा पट्ट बन्ध के बहाने निश्चल बॉधा गया फिर रक्षा के अधिकारी सामन्तो की खड्ग सहित भुजाओ के वज्रपंजर मे जिसकी भलीभॉति रक्षा की गई - तो भी यह नही रही, देखते-देखते जाती रही।

भावार्थ – राज्यलक्ष्मी दीपशिखा के समान अति चचल है। रक्षा करते-करते भी तत्काल नष्ट हो जाती है। रक्षा के लिए बलवान् पुरुषो ने पट्ट बन्ध के मिस इसे निश्चल बॉधा और खड्गधारी सामन्तो की भुजा रूप वज्रपजर मे इसे रखा गया तो यह स्थिर नही रही। जब चक्रवर्ती की लक्ष्मी ही क्षणभगुर है तो औरो की लक्ष्मी के रहने की क्या आशा ? इसलिये लक्ष्मी को विनाशीक जानकर अविनाशी विभूति का उपाय करना ही योग्य है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है–

जा सासया ण लच्छी चक्कहराणंपि पुण्णवंत्ताण।
सा किं बधेइ रइ इयरजणाणं अपुण्णाणं।।१०।।

जो लक्ष्मी महापुण्यशाली चक्रवर्तियो के भी सदा नही रहती, वह भला पुण्यहीन अन्य साधारण जनो से कैसे प्रेम कर सकती है ?

जिस शरीर में राजलक्ष्मी का पट्ट बाँधा गया सो यह शरीर कैसा है और तू इससे कैसे दु ख भोग रहा है, सो बताते हैं –

देह-दशा
(अनुष्टुप् छन्द)

दीप्तो भयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत्।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे वत सीदसि।।६३।।

अर्थ – जैसे लगी है दोनो छोरो पर अग्नि जिसके ऐसी एरण्ड की लकड़ी के बीच स्थित कीट अति खेद-खिन्न होता है, वैसे ही उस कीट की भाँति इस शरीर मे तू खेद-खिन्न होता है। यह शरीर तो जन्म-मरण से व्याप्त है।

भावार्थ – एरण्ड की लकड़ी के दोनो किनारो पर जब आग लग जाए तो बीच मे आया हुआ कीड़ा कहाँ जाए, उसे तो खेद-खिन्न होकर मरना ही पड़े, वैसे ही जन्म-मरण कर व्याप्त इस शरीर मे तू कीड़े की भाँति अति खेद-खिन्न होकर जलता है। इसलिए शरीर मे ममता छोड़ ताकि फिर शरीर न धारण करना पड़े। इस शरीर से अनुराग करना ही नये-नये शरीर धारण करने का कारण है। ऐसा जानकर महामुनियो ने अपने शरीर से स्नेह छोड़ा है।

आगे कहते है कि शरीर के आश्रित इन्द्रियो के वश होकर तू क्यो अनेक प्रकार के क्लेश भोगता है –

विषयो का त्याग कर ध्यानामृत से आत्मा को पुष्ट कर
(शार्दूविक्रीडित छन्द)

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं,
प्रेष्य· सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहास्यलं वृंहयन्।
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवान्–
आत्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृत.।। ६४ ।।

अर्थ – हे जीव ! तू कर्मों के उदय से नेत्रादि इन्द्रियो से प्रेरित होकर अति व्याकुल हुआ रूपादि समस्त विषयो के भोग के लिए क्यो खेद-खिन्न होता है। तू इन इन्द्रियो का किंकर ही हो रहा है। अनेक खोटे आचरण कर पापो मे वृद्धि करते हुए उन विषयो को भोगकर तू अनन्त भवो मे दु·खी हुआ है। अब आकुलता छोड़ ज्ञानी होकर समस्त विषयो का त्याग कर ध्यान रूपी अमृत से अपनी आत्मा को पुष्ट कर सुखी बन। मोह-रज को धोकर उत्तम आचरण कर निवृत्त हो जा।

भावार्थ — यह आत्मा कर्मों के उदय से शरीर धारण करता है और शरीर के योग से इन्द्रियो के वश होकर विषयो के लिए व्याकुल होता है और अनेक दुराचार कर पापो मे वृद्धि करता है। विषयो को भोगकर कुयोनियो मे जा गिरता है। परन्तु जो ज्ञानवान् आत्मा मलिन भाव तज कर अपने आत्मा को ध्यानामृत से पुष्ट करता है वह महासुखी होकर पाप-रज से रहित होकर उत्तम वृत्ति धारण कर निवृत्त हो जाता है, इसलिये तू ज्ञानवान् होकर ससार से निवृत्त हो।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यतियो को निर्धनपने से सुख की प्राप्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर देते हैं कि जगत् के निर्धन और धनवान् सभी जीव दुखी है। केवल यति ही महासुखी है -

मुनि ही परम सुखी है

(अनुष्टुप् छन्द)

अर्थिनो धनमप्राप्य, धनिनोऽप्यवितृप्तित ।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनि· सुखी।।६५।।

परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवल वरम्।
अन्यथा सुखिनामान. कथमासंस्तपस्विन.।।६६।।

अर्थ — जो निर्धन है और सब बातो (चीजो) के अभिलाषी हैं, वे तो महादु खी है। जो धनवान् है, वे भी तृप्ति बिना, तृष्णा के कारण महादु खी है। जगत् के सभी जीव दु खी ही है। निश्चय से विचार करे तो एक सुखी कहिये सन्तोषी मुनि - वे ही महासुखी हैं। पराधीन सुख से स्वाधीन दु ख ही श्रेष्ठ है।[१] ऐसा न हो और अन्यथा हो तो तपस्वी मुनि 'सुखी' यह नाम कैसे पावे?

भावार्थ — जगत् मे जितने जीव है वे सब दु खी ही है। जो निर्धन है वे तो सब सामग्री रहित हैं इसलिए अपने आपको दु.खी मानते हैं और जो धनवान् है उनकी तृष्णा बढती रहती है, उन्हे तृप्ति नही होती सो तृप्ति बिना सुख कैसा ? वे भी महादु खी हैं। शास्त्र मे सुखी नाम मुनि ही का है और का नही। जगत् का सब सुख पराधीन है। सो पराधीन सुख से स्वाधीन दु ख ही श्रेष्ठ है। पराधीनपने मे सुख की मान्यता वृथा है। यदि पराधीनपने मे ही सुख होता तो महातप तपने-वाले मुनि 'सुखी' नाम कैसे पाते ? इसलिए यह तो निश्चित हुआ कि जिनके आशा लगी है वे ही दु खी हैं और जिनके आशा-तृष्णा नही वे सुखी हैं। सभी ससारी जीव आशा के दास और इन्द्रियो की आधीनता से दु खी हैं। मुनिगण आशा के त्यागी और मन व इन्द्रियो को जीतने-वाले होने से सदा सुखी हैं।[२]

---

१ 'पराधीन सुख से भी दु ख ही होता है, केवल स्वाधीन सुख ही श्रेष्ठ होता है।' ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है।

२ आशाया ये दासा ते दासा सर्वलोकस्य। आशा येषा दासी, तेषा दासायते लोका ।

अब दो काव्यो मे मुनि के गुणो की प्रशंसा करते हैं –

साधुओ के गुण
(शिखरिणी छन्द)

यदेतत् स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं,
सहार्यैः संवास. श्रुतमुपशमैक श्रमफलम्।
मनोमन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायातिविमृशन्
ज जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः।।६७।।

(हरिणी छन्द)

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा,
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो,
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधे।।६८।।

अर्थ – मुनियो की क्या महिमा कहे। उनके स्वाधीन विहार है, दीनता रहित भोजन है और मुनियो के संघ मे निवास है। शान्त भाव ही है फल जिसका ऐसे शास्त्रपठन मे जो सलग्न है, मन का वेग मन्द हो गया सो आत्म-विचार ही मे लीन हैं। चिरकाल आत्मविचार करते हुए कभी बाह्य क्रियाओ मे आते है। मुनि की ऐसी परम दशा होती है सो हम नही जानते यह कौन-से उदार तप की परिणति है।

अतुल वैराग्य, शास्त्र-चिन्तन, सर्वोत्कृष्ट सब जीवो पर दया, एकान्तवाद यानी एक नय के हठाग्रह रूपी महान् अन्धकार का भेदन करने-वाली सूर्य-किरण समान बुद्धि-सम्पन्न और (आयु के) अन्त समय मे शास्त्रोक्त विधिपूर्वक अनशन धारण कर देह का विसर्जन – ये सब क्रियाये सत्पुरुषो की अल्प तपश्चर्या का फल नही है अपितु महान् तप का फल है।

भावार्थ – सभी जीव पराधीन हैं, इन्द्रियो के वशीभूत हैं। यदि वे गमन भी करते है तो किसी विशेष कामना सहित। जबकि साधुओ का विहार स्वाधीन होता है, उनके किसी प्रकार की कामना नही होती। वर्षा ऋतु के सिवाय मुनि एक स्थान पर नही रहते। एक स्थान पर रहे तो वहॉ के लोगो से स्नेह बढ जाए सो वैराग्य भाव की बुद्धि के लिए वे विहार करते है। उनका भोजन दीनता रहित होता है जबकि जगत् के जीवो का भोजन दीनता रूप है। जो दरिद्र है उनके तो प्रत्यक्ष ही दीनता दिखाई देती है क्योकि घर मे तो सामग्री है नही, पर-घर (दूसरे के घर) से लाने पर ही काम चलता है सो उसका मिलना कठिन है। जो धनवान हैं वे नाना वस्तुओ के अभिलाषी होते हैं सो देश-काल के योग से उनकी कुछ अभिलाषायें पूर्ण होती हैं, कुछ नही होती अत वे दीनता युक्त हैं। एक मुनिराज ही दीनता रहित हैं जिनके लाभ-अलाभ, रस-नीरस सब समान है। मुनि

मुनियों के ही साथ रहते हैं, इस साहचर्य के समान कोई उत्कृष्ट साहचर्य नही क्योंकि लोक का तो कुसंग है। सबसे बड़ा कुसंग तो स्त्री की संगति है। जिससे काम-क्रोधादिक उत्पन्न होते हैं। साधु-सगति से काम-क्रोधादि विनष्ट होते हैं। लोगों के तो और तरह के अभ्यास लगे रहते हैं जबकि साधु के तो केवल श्रुत का ही अभ्यास है। शास्त्र के अभ्यास का फल है परम शान्तभाव सो ही मुनियो के प्रकट होता है जबकि मूढ लोग शास्त्र का अभ्यास करके भी मदोन्मत्त हो जाते हैं, सो यह बड़ा दोष है। मुनिराज के मन का वेग मन्द होता है जबकि लोगो का मन अत्यन्त चचल होकर सदा बाह्य वस्तुओ मे ही भटकता रहता है। मुनि का मन सदैव आत्मविचार मे ही लगा रहता है, कभी बाह्य शुभ क्रिया मे आता है अशुभ क्रिया का तो नाम ही नही। ऐसी दशा मुनियो की होती है, सो मैं नही जानता कि यह कौन से उत्कृष्ट तप का फल है।

मुनियो के अतुल वैराग्य होने से संसार, शरीर और भोगो से अत्यन्त उदासीनता होती है जबकि जगत् के सभी जीव रागी हैं, उनके राग-द्वेष का तीव्र उदय रहता है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव के कारण यद्यपि अव्रत सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि के समान रागी नही है फिर भी अप्रत्याख्यान के उदय होने से रागी है। अणुव्रती श्रावक यद्यपि अप्रत्याख्यान के अभाव से अव्रत सम्यग्दृष्टि से बढकर है तथापि प्रत्याख्यान के उदय से अल्प रागी है। मुनि के प्रत्याख्यान का भी अभाव होता है इसलिए विषयानुरागी तो सर्वथा मिट गया, बस, सज्वलन के उदय से कुछ धर्मानुराग रहता है, सो छठा गुणस्थान है। आगे ऊपर के गुणस्थानो मे वीतराग भाव ही की वृद्धि है। इसलिए मुनि के अतुल वैराग्य परिणाम ही रहते हैं। धर्मानुराग वीतराग भाव का ही कारण है। फिर मुनि के छठे गुणस्थान मे शास्त्र चिन्तन है। ऊपर के गुणस्थानो मे आत्मध्यान ही है। मुनियो का सा शास्त्रज्ञान औरो के नही होता। अज्ञानी जीव तो विकथा ही मे आसक्त रहते है, उन्हे शास्त्र का अनुराग नही होता। सम्यग्दृष्टि अव्रती तथा अणुव्रती श्रावक यद्यपि जिनसूत्र के अभ्यासी हैं फिर भी परिग्रह के कारण अल्पश्रुती ही हैं, बहुश्रुती नही। शास्त्र के पारगामी बहुश्रुत मुनि ही हैं।

मुनि की सी जीवदया भी औरो के नही होती। अज्ञानी जीव तो सदा निर्दय ही है और अव्रत सम्यग्दृष्टि यद्यपि भावो से दयारूप है फिर भी बहुत आरम्भ परिग्रह के कारण उससे दया नही पलती है। अणुव्रती के अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रह के कारण हिंसा अल्प है। त्रसहिंसा तो उसके सर्वथा नही होती। स्थावर जीवो की हिंसा होती है अत सर्वथा अहिंसा नही कही जाती। सर्वथा अहिंसा तो मुनिराज के ही बनती है। मुनिराज महादयावान् होते हैं। मुनियो की बुद्धि सदैव एकान्तवाद रूप अन्धकार के हरण करने के लिए सूर्य की प्रभा समान है। औरो की बुद्धि ऐसी प्रकाश रूप नही होती। यद्यपि सम्यग्दृष्टि श्रावको की बुद्धि एकान्तवाद रूप अन्धकार से रहित स्याद्वाद श्रद्धान रूप होती है फिर भी मुनियो की शिक्षा विशेषता लिये हुए है, स्याद्वाद विद्या के गुरु मुनिराज ही हैं।

आयु के अन्त मे मुनि अनशन तप कर शरीर को सल्लेखना पूर्वक छोड़ते है। उत्कृष्ट आराधना मुनियो के ही होती है। अणुव्रती श्रावक की आराधना मध्यम कोटि की है। अणुव्रती सम्यग्दृष्टि के

जघन्य आराधना होती है। जगत् के अन्य जीव तो आराधना रहित विराधक ही है। मुनियो की इस प्रकार की अलौकिक वृत्ति किसी अल्प तप की विधि का फल नही है, अपितु पूर्ण तपश्चर्या का फल है।

यहाँ कोई शंका करे कि तप करने से तो कायक्लेश होता है अत तप अयुक्त है, शरीर धर्म का साधन है सो यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए, इसका समाधान करते हैं -

शरीर तो स्वभाव से ही विनाशीक है -

(अनुष्टुप् छन्द)

उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्तत इतोन्यत.।
सर्वतः पतनप्राये काये कोयं तवाग्रह·।।६९।।

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुः कार्यादिभिर्यदि।
शाश्वत पदमायाति, मुधाऽऽयातमवेहि ते।।७०।।

अर्थ — हे प्राणी ! तेरा इस शरीर (की रक्षा) मे कैसा आग्रह है कि जो मै इसकी रक्षा करूँ। यह तो करोड़ो उपाय करने पर भी रखा नही जा सकता। सर्वथा पतनोन्मुख है यह तो जैसे डाभ की अणी (नोक) पर पड़ी ओस की बूँद नष्ट होने रूप ही है। स्वय के द्वारा या किसी अन्य के द्वारा भी इस शरीर की रक्षा नही की जा सकती है। आयु, कायादिक अवश्यमेव विनाशीक है। इनका ममत्व छोड़कर यदि अविनाशी पद तेरे हाथ आता है तो उसे सहज आया जान।

भावार्थ — आयु भी विनाशीक है और काया भी विनाशीक है। देवो और नारकियो की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर होती है, वह भी जब विनश्वर है तो मनुष्य और तिर्यचो की अल्प आयु की क्या बात ! देवो का नीरोग शरीर सो भी काल के वशीभूत है, तीर्थकरादि पुराणपुरुषो का शरीर है सो भी विनाशीक है तो औरो के शरीर की क्या बात? इसलिए यह तो निश्चित है कि आयु का अन्त आने पर शरीर नही रहता और आयु प्रमाण (परिमाण-सीमा) से अधिक होती नही। इसलिए आयु और काय दोनो का ममत्व छोड़ कर अपने अविनाशी स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। काया को तप-सयम मे लगा कर अपनी आयु पूर्ण करे तो अविनाशी पद का पात्र हो सकता है। यदि इस अल्पायु और चंचल काया के बदले मे शाश्वत पद मिलता हो तो 'फूटी कौड़ी के बदले चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ' ऐसा मानना चाहिए।

आगे दो श्लोको द्वारा आयु की विनाशीकता दर्शाते है -

आयु भी विनाशीक है

(अनुष्टुप् छन्द)

गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वासैरभ्यस्यत्येष संततम्।
लोकः पृथगितो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम्।।७१।।

(शिखरिणी छन्द)

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयंत्रसलिलं,
खल. कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम्।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह,
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः।।७२।।

अर्थ — यह आयु उच्छ्वास-निश्वास रूप होकर निरन्तर गमन करने का अभ्यास कर रही है और अज्ञानी लोग ऐसी आयु से अपने आपको अजर-अमर रहने की वाञ्छा करते है। यह आयु प्रत्यक्ष ही रहॅट की घड़ियो के जल की भॉति क्षण-क्षण गल रही है। काया भी आयु के पीछे ही निरन्तर पतनोन्मुख है। काया तो आयु की सहचारी है, पीछे-पीछे लगी है। जब आयु और काया की ही यह बात है तो इस जीव के पुत्र, कलत्र, धन-धान्यादि अन्य पदार्थो की क्या बात ? वे तो प्रकट ही जीवन के मूल है सो दोनो ही क्षणभंगुर है। बुद्धिहीन बहिरात्मा भ्रातिवश अपने आपको स्थिर-अविनाशी मानता है जैसे नाव मे स्थित अपने को भ्रान्तिवश स्थिर मानता है।

भावार्थ — जैसे नाव मे बैठा हुआ पुरुष चलता जाता है परन्तु भ्रान्तिवश अपने आपको चलता हुआ नही मानता, स्थिर मानता है वैसे ही मूढबुद्धि-श्वोसोच्छ्वास से निरन्तर आयु बीत रही है और आयु के कारण ही काया भी जीर्ण हो रही है, तो भी ऐसा मानता है कि मै सदा ऐसे ही रहूँगा। जीवन के कारण आयु और काय जब दोनो ही चचल है तो जीने की क्या आशा? जैसे कुए का पानी रहॅट की घड़ियो द्वारा निरन्तर निकलता रहता है वैसे ही श्वास-निश्वास से आयु की स्थिति पूर्ण हो जाती है और काया जीर्ण हो जाती है। आयु पूरी होने पर काया भी नही रहती। इसलिए आयु और काया दोनो को विनाशीक जान कर विवेकी इनसे ममता छोड़ता है और जब आयु और काया ही से ममत्व छोड़ दिया तब और जो स्त्री, पुत्रादिक हैं उनसे तो क्या ममत्व करे? वे तो प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं।

आगे कहते हैं जब तक श्वास तब तक जीवन, सो जब श्वास ही दु ख रूप है तो प्राणियो के सुख कहॉ से हो सकता है ?

जीवन-मरण दोनो मे सुख नही

(अनुष्टुप् छन्द)

उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद् दुःखमेवात्र जीवितम्।
तद्विरामे भवेन्मृत्युपर्नृणां भण कुत सुखम्।।७३।।

अर्थ — उच्छ्वास खेदपूर्वक ही उत्पन्न होती है इसलिए दु ख ही है और इसी के रहने पर जीवन रहता है। उच्छ्वास के अभाव मे मृत्यु हो जाती है। तो फिर कहो कि प्राणियो को सुख कहॉ से हो सकता है?

भावार्थ — जहाँ खेद नही सो सुख, उच्छ्‌वास तो खेद से ही उत्पन्न होता है और जब तक उच्छ्‌वास है तभी तक जीवन है। इसलिए जीने मे सुख नही और श्वास रुकने पर मरना सो मरने पर जीव ही नही तो सुख किसके हो ? इसलिए तुम ही बताओ जीवो को सुख कहाँ से हो? इस शरीर का सम्बन्ध तो दु.ख ही का कारण है। देह से नेह तजने पर वीतराग भाव से सुख होता है अत वही अगीकार करना चाहिए।

अब कहते हैं कि जन्म-मरण के मध्यवर्ती इस प्राणी के कितने काल तक जीवित रहने का विश्वास है?

जन्म-मरण के मध्यवर्ती जीवन की स्थिति

(अनुष्टुप् छन्द)

जन्मताल-द्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः।
अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम्।।७४।।

अर्थ — जन्म रूप ताल के वृक्ष से जीव रूप फल गिरता है सो मृत्युभूमि ही को प्राप्त होता है, अन्तराल मे थोड़ा ही रहता है, अधिक देर नही।

भावार्थ — ससार मे जीना थोड़ा ही है। जैसे वृक्ष से फल टूटे सो पृथ्वी पर ही पड़े, बीच मे कितनी देर रहे। वैसे ही जो जन्मता है वह मरता है, आयु मे कब तक रहता है, थोड़ा ही रहता है। अत देहादिक को क्षणभगुर जानकर आत्मज्ञान के प्रभाव से अविनाशी पद का साधन करना ही योग्य है।

जीवो की रक्षा के लिए विधि ने अनादि काल से प्रयत्न किया है तो भी वह रक्षा नही कर सका है -

मनुष्य की रक्षा करना सम्भव नही है।

(हरिणी छन्द)

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभि.,
परिव्रत्तमत· खेनाधस्तात् खलासुरनारकान्।
उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा,
पतिरपि नृष्णां त्राता नैको ह्यलंघ्यतमोऽन्तकः।।७५।।

अर्थ — विधि रूप मंत्री ने मनुष्यो की अनेक उपायो से रक्षा की तो भी वह उन्हें सुरक्षित नही कर सका। अन्दर तो उसने असख्यात द्वीप-समुद्रो के कोट (परकोटे) में इनको रखा और बाहर से तीन वातवलयो[1] के कोट से इनकी रक्षा की और उसके बाहर अनन्त अलोकाकाश से वेष्टित

१ घनोदधि, घन और तनुवातवलय सम्पूर्ण लोकाकाश को चारो ओर से घेरे हुए हैं।

किया। जो नारकी, दुष्ट परिणामी थे, उन्हे अधोलोक मे स्थापित किया। ऊर्ध्वलोक मे देवो को रखा। मध्य में मनुष्यो को रखा तो भी मनुष्य मृत्यु से नही बच सका। इसलिए यह निश्चय समझो कि मनुष्यो का स्वामी जो कोई विधाता अथवा चक्रवर्ती अथवा इन्द्र आदि है वह भी मनुष्यो का रक्षक नही है। यह काल अत्यन्त अलंघ्य है।

भावार्थ — अनेक उपाय करने पर भी काल से नही बचा जा सकता है। मनुष्यो को हीन बली जान कर विधि रूप मत्री ने रक्षा के अनेक उपाय किये। ऊपर की रक्षा तो देवो द्वारा की, अधोलोक मे नारकियो को रखा और असंख्यात द्वीप समुद्रो के मध्यवर्ती रख कोट इत्यादि रक्षा के उपाय किये परन्तु रक्षा न हुई। काल बली है, किसी से भी रोका नही जा सकता है। वह अलघ्य है। इसलिए शरीर की रक्षा छोड़कर धर्म की रक्षा करनी चाहिए। आत्मा तो अविनश्वर है परन्तु देह से स्नेह कर नये-नये देह धारण करता है इसलिए जन्मता-मरता कहा जाता है। निश्चय नय से तो न जन्मता है और न मरता है। ऐसा अपना स्वरूप जानकर देहादिक से स्नेह छोड़े तो नये देह धारण न करने पड़े। यही मुक्ति का उपाय है।

आयु की स्थिति पूर्ण होने पर काल प्राण लेने का उद्यम करता है, उसका निवारण करने मे कौन समर्थ है ?

अजेय काल की गति अनिवार्य है

(शिखरिणी छन्द)

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनु· पापमलिन.,
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम्।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरम,
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान्।।७६।।

अर्थ — हाय ! यह बड़ा कष्ट है, निश्चय से आयु कर्म के पूर्ण होते ही काल आ धमकता है तब ऐसा और कौन बलवान् है जो जीव की रक्षा कर सके। कोई भी रक्षा करने मे समर्थ नही है। जैसे नवग्रहो में दुष्ट राहु ग्रहण के समय लोक मे सम्पूर्ण पदार्थो को प्रकाशित करने-वाले सहस्रकिरण सूर्य को भी ग्रस लेता है, सो (उस सूर्य को) उस समय कोई बचाने मे समर्थ नही है। जैसे ग्रहण का अवसर पाकर राहु सूर्य को ग्रस लेता है वैसे ही आयु के अन्त का समय पाकर काल रूप राहु जीव रूप सूर्य को ग्रस लेता है। सूर्य तो सहस्रकिरण है और अनन्त ज्योति, अनन्त प्रकाश रूप है। कैसा है राहु और कैसा है काल ? कि जिनके स्थान का पता नही, सो काल की तो प्रकट दशा सब ही जानते हैं और राहु का कोई बार नही इसलिए लोक इसे भी स्थानरहित कहता है। काल तो शरीर रहित है और राहु भी अतनु कहलाता है। काल लोको को ग्रसता है सो यदि कोई

किसी को ग्रसे तो वह पापी होता है सो काल को पापी कहते हैं। जो पापी होता है वह मलिन होता है। राहु को पापग्रह कहा जाता है, वह काला है अत 'काल' का दृष्टान्त दिया है।

भावार्थ — षट्द्रव्यो (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) मे काल द्रव्य अपनी अमूर्त जड़ सत्ता से विराजमान है, किसी का हर्ता नही है। परन्तु काल का व्यवहार (व्यवहारकाल) पर्याय समय, पल, घड़ी आदि है। अत· जिसकी स्थिति - आयु जिस समय पूरी हो जावे उसे उसी समय वर्तमान देह छोड़कर देहान्तर मे गमन करना होता है। यह छल देखकर लोग कहते हैं कि काल मारता है।

काल क्या करके, किस स्थान मे प्राणियों को मारता है? सो बताते हैं -

काल की कार्यविधि

(वसन्ततिलका छन्द)

उत्पाद्य मोहमदविभ्रममेव विश्व,
वेधाः स्वयं गतघृणष्ठगवद्यथेष्टम्।
संसारभीकरमहागहनान्तराले,
हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः।।७७।।

अर्थ — वेधा अर्थात् पूर्वोपार्जित कर्म सो यथेष्ट ठग की भाँति निर्दय, मोह रूपी मदिरा उत्पन्न कर (पिलाकर) विश्व को विह्वल कर संसार रूप भयानक वन मे मारता है वहाँ उससे बचाने मे कौन समर्थ है?

भावार्थ — निर्दय ठग मूढ लोगो को नशे की वस्तु देकर मद उत्पन्न कर विह्वल कर देता है और फिर उन्हे गहन वन मे मार डालना है। वैसे ही महानिर्दय कर्म रूपी ठग मोह रूपी महामद उत्पन्न कर समस्त अज्ञानी जीवो को ससार रूपी वन मे मार डालता है, उस समय उससे कौन बचा सकता है? काल का कारण कर्म है। जिनके कर्म हैं वे सब काल के वश मे हैं। सिद्धो के - मुक्त जीवो के कर्म नही है, इसलिये वे काल के वश मे भी नही हैं।

किसी स्थान, किसी काल से बचने का उपाय नही। सभी देशो, सभी कालो मे काल ग्रस लेता है। काल से बचाव तभी हो सकता है जब कर्मों का परिहार हो, यही बताते हैं -

अनियत काल से सदैव सावधान रहना चाहिए।

(अनुष्टुप् छन्द)

कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः।।७८।।

अर्थ — पण्डितो - सम्यग्दृष्टियो को आत्मकल्याण के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए। काल के आ जाने पर फिर यत्न किये कुछ नही होता। किस समय, किस प्रकार, किस क्षेत्र मे कहाँ से काल आता है, ऐसा विचार मे ही नही आता है, दुष्ट काल आकस्मिक ही आता है, इसलिए आत्मध्यान कर अविनाशी बनने का यत्न करो।

भावार्थ — आत्मस्वरूप मे मग्न होने पर भी काल का निवारण हो सकता है। रागादिक का परिहार किये बिना और किसी यत्न से काल का निवारण सम्भव नही। मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, औषधादिक से काल को दुर्निवार जानो और मौन होकर स्थित हो जाओ।

सभी देशो और सभी कालो मे मृत्यु होती है। कोई भी देश, स्थान, काल मृत्यु के अगोचर नही, ऐसा प्रत्यक्ष देखकर निश्चित समझो -

काल अपरिहार्य है

(अनुष्टप् छन्द)

असामवायिक मृत्योरेकमालोच्य कश्चन।
देशं कालं हेतुं विधिं निश्चिन्ता· सन्तु जन्तव.।।७९।।

अर्थ — कोई भी स्थान, कोई भी काल, कोई भी विधि और कोई भी कारण मृत्यु के अगोचर नही है, ऐसा देखकर ए प्राणियो ! निश्चिन्त तिष्ठो।

भावार्थ — जगत् मे ऐसा कोई देश-स्थान नही जिसमे मृत्यु न होती हो। ऐसा कोई काल नही जिसमे जीव न मरता हो और ऐसी कोई विधि नही जिससे मृत्यु मिट सकती हो। ऐसी कोई औषधि या मन्त्र विधि भी नही है कि जिससे काया बच जाए। इसलिए सबको सर्वथा काल के वशीभूत जानकर आत्मकल्याण मे अवश्य उद्यमी होना योग्य है। एक आत्मज्ञान ही काल से बचने का उपाय है। सब क्षेत्रो मे सदा काल सर्वथा प्रकार किसी भी कारण से कोई भी प्राणी काल से नही बच सकता है।

अब स्त्री की निन्दा करते हुए उसके शरीर को अकल्याण का कारण दर्शाते हैं -

स्त्रीदेह अनुपसेव्य और त्याज्य है

(हरिणी छन्द)

अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा-
मुपकृतवतो भूयः किं तेन चेदमपाकरोत्।
कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे,
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे।।८०।।

अर्थ — तू स्त्री के इस देह मे किस कारण से प्रीति करता है? स्त्रीदेह कल्याण को भस्म करने के लिए अग्नि-ज्वाला का समूह है। और क्या तू प्रत्यक्ष नही देखता है कि स्त्री का यह शरीर नरक की आपदा का खुला द्वार है। तू तो स्त्री के शरीर से बारम्बार अनुराग कर उसका उपकार करता है परन्तु वह सदैव विघ्नकारी ही रहता है। अत तू तरुणी के तन से प्रीति छोड़। इसे अज्ञानीजन दुर्लभ मानते हैं जबकि यह कोई वस्तु है ही नही।

भावार्थ — स्त्री ही संसार का मूल कारण है, क्योकि इसी से पुत्र-पौत्रादि सन्तान की प्रवृत्ति होती है। यह अनेक प्रकार के आरम्भ, परिग्रहादि चिन्तारूप क्लेशो को बढाने वाली है। जो निवृत्ति-वधू के वर हुए वे स्त्री के त्याग ही से हुए। स्त्री के सम्बन्ध से ही प्राणी चारो गतियो मे भ्रमण करते हैं। ऐसा जानकर स्त्री का संसर्ग तजना।

स्त्री मे प्रीति का त्यागकर, सब प्रकार से असार इस मनुष्यपने को उत्कृष्ट धर्म उपजा कर सफल कर। ऐसी शिक्षा देते हुए सूत्र कहते हैं -

असार मनुष्यपने को धर्मसाधन को सफल कर

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेप्यभोगोचितं,
विश्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्टकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम्।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुन
र्निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु।।८१।।

अर्थ — यह मनुष्यपना घुणो (कीड़ो) के द्वारा खाये हुए काणे साँठे - गन्ने के समान है। कैसा है? आपदा रूपी गाँठो से युक्त है। अन्त मे रसहीन है। मूल मे भी भोगने योग्य नही है। और फिर सर्वांग मे ही क्षुधा, कोढ, फोड़े, कुथितादि (शरीर का गलना) भयानक रोगो से सछिद्र हो गया है। बस, एक नाम मात्र ही रमणीक है और सब प्रकार से असार है। अत तू इसको शीघ्र धर्मसाधन से परलोक का बीज करके सफल कर।[१]

भावार्थ — जैसे काणा गन्ना मध्य मे तो गाँठो से युक्त होता है, वहाँ उसमे रस नही होता। अन्त मे बाँड होता है, उसमे भी रस का स्वाद नही होता। आदि मे जड़ होती है वहाँ भी रस नही होता। बीच मे सब जगह कीड़ो द्वारा छिद्रित होने के कारण वहाँ भी रस रहा नही। ऐसा वह काणा गन्ना नाम मात्र से ही भला है, यो सब प्रकार से असार है और खाने योग्य नही है। परन्तु यदि उस गन्ने को आगामी गन्ने पैदा करने के लिए बीज स्वरूप कर दे तो उससे बहुत मीठे गन्ने उत्पन्न हो।

१ काना पौंडा पड़ा हाथ यह, चूसै तौ रोवै। फले अनन्त जु धर्मध्यान की भूमिविषै बोवै।। - अशुचिभावना भगतराय

इसलिए ऐसा ही करके उस गन्ने को सफल-सार्थक करना योग्य है। मनुष्य पर्याय भी इसी गन्ने के समान है। इमसें बीच-बीच मे तो अनेक आपदाये देखी जाती हैं, वहाँ सुख नही। अन्त मे वृद्धावस्था आती है वहाँ सुख का स्वाद नही। आदि मे बाल्यावस्था है वहॉ सुख होता नही। मध्य अवस्था मे सर्वत्र क्षुधा, पीड़ा, चिन्ता आदि रोगों से कलेजा छलनी रहता है अत वहॉ भी सुख होता नही। अत. यह मनुष्य पर्याय भी नाम मात्र मे ही भली है, यो सब प्रकार से असार है। विषयसुख भोगने योग्य नहीं, किन्तु यदि इस मनुष्य पर्याय को धर्मसाधन करके परलोक के लिए बीज स्वरूप करे तो इसको स्वर्ग-मोक्ष के सुख रूप मीठे फल उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए इस मनुष्य-पर्याय को ऐसे ही सफल करो, यह शिक्षा मानने योग्य है।

ऐसी मनुष्य-पर्याय के शरीर मे रहने-वाला आत्मा क्या करता है, सो कहते हैं -

शरीर विनाशीक है

(अनुष्टुप् छन्द)

प्रसुप्तो मरणाशङ्कां, प्रबुद्धो जीवितत्सवम्।
प्रत्यहं जनयत्येष, तिष्ठेत् काये कियच्चिरम्।।८२।।

अर्थ — प्रसुप्त दशा मे तो यह आत्मा प्रतिदिन मरण की आशका पैदा करता है और जागृत दशा मे जीने का उत्सव उत्पन्न करता है। जिसकी ऐसी दशा है वह जीव इस शरीर मे क्या चिरकाल पर्यन्त ठहर सकता है ? नही, नही ठहर सकता है।

भावार्थ — यह जीव सोवे तब तो मृतक सदृश प्रतीत होता है और जागे तब जीवित होता है, ऐसी दशा इसकी प्रतिदिन हुआ करती है। जैसे जो नित्य छिपे उसके भागने का भरोसा नही वैसे ही इस जीव का इस शरीर मे रहने का भरोसा नही। यह शीघ्र ही शरीर को छोड़ देगा ऐसा निश्चय कर जो कुछ करणीय है, वह कर लेना चाहिए।

जिस प्रकार शरीर आत्मा का उपकार नही करता, उसी प्रकार कुटुम्बीजन भी आत्मा का उपकार करने मे असमर्थ हैं, ऐसा सूत्र कहते हैं -

कुटुम्बी भी हमारा हित नही करते

(वसन्ततिलका छन्द)

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्,
सम्भूय कायमहितं तव भस्मयन्ति।।८३।।

अर्थ — तू सच कह जो तूने संसार मे बन्धुजनो से बन्धुजनोचित हित रूप प्रयोजन कुछ भी प्राप्त किया हो? कुटुम्ब से कुछ भी हित हुआ दिखता नही। केवल इतना ही उनका उपकार है कि वे तेरे मरने के बाद एकत्र होकर तेरे शत्रुरूप शरीर को भस्म कर देते हैं।

भावार्थ — भाई-बन्धु वे होते हैं जो अपना कुछ हित करे। सो तू जिनको भाई-बन्धु मानता है सो इन्होने तेरा कुछ हित किया हो सो बता, जिससे तेरा मानना सच हो। हमे तो केवल इनका इतना ही हित कार्य दिखाई देता है कि तेरे शरीर रूपी शत्रु को मरने के बाद ये सब मिलकर जला देते हैं, इस तरह तेरी शत्रुता का बदला लेते हैं। जो शत्रु का शत्रु हो उसे अपना हितैषी कहा जाता है। इस तरह तो ये तेरे हितू हैं। इस युक्ति से कुटुम्ब से किसी प्रकार का हित होता न जानकर, उससे राग नही करना, ऐसी शिक्षा दी है।

यहाँ कोई तर्क करता है कि विवाहादिक कार्य तो बन्धुजनो के द्वारा ही होते हैं इसलिए उन बन्धुजनो से हितरूप कार्य कैसे नही होता ? इस आशङ्का का उत्तर देते हैं -

उपकार माने जाने-वाले विवाहादि से तो अपकार ही होता है

(अनुष्टुप् छन्द)

जन्मसन्तानसंपादिविवाहादिविधायिन ।
स्वाः परेऽस्य सत्कृत्प्राणहारिणो न परे परे।।८४।।

अर्थ — ससार-परिपाटी को उत्पन्न करने-वाला विवाहादि कार्यों को सम्पन्न कराने-वाले स्वकीय पारिवारिक जन ही इस जीव के शत्रु हैं, एक बार प्राणो का हरण करने-वाले बैरी वास्तव मे बैरी नही हैं।

भावार्थ — जो एक बार प्राणो का घात करता है, तू उसे अपना परम शत्रु मानता है परन्तु उसके किये, प्राणो का नाश नही होता, प्राणो का नाश तो आयु का अन्त आने पर होता है, इसलिए परमार्थत. प्राणो का हरण करने-वाला शत्रु नही है, अपितु विवाहादि कार्यों मे जीव को उलझा कर जो रागादि के निमित्त बनाते हैं, ऐसे जो बन्धुजन हैं, वे अनेक जन्म-मरण के कारणभूत कर्मों का बन्ध करवा के इस जीव का बुरा करते हैं अत परमार्थत ऐसे बन्धुजन ही शत्रु हैं। जैसे जो देनदारी दिलवाता है यानी कर्जा चुकवाता है वह शत्रु नही अपितु जो नवीन देना करवाता है यानी कर्जा चढवाता है वह शत्रु होता है। वैसे ही प्राणो का हरण करने-वाला तो पूर्व कर्मों की निर्जरा कराता है, अत वह शत्रु नही होता। ये बन्धुजन कर्मबन्ध के कारण पैदा करते हैं अत: ये ही शत्रु हैं। ऐसा जानकर इन्हें अपना हितैषी मानकर राग नही करना।

विवाहादि विधान से धन-धान्य-स्त्री आदि इष्ट वस्तु को उत्पन्न कर वाछित प्रयोजन की प्राप्ति कराने-वाले बन्धुजन शत्रु हैं, ऐसा कहना अनुपयुक्त है, इस मान्यता का उत्तर देते हैं -

आशा, तृष्णा को बढाने-वाला सुख भ्रान्तसुख है

(अनुष्टुप् छन्द)

रे धनेन्धनसम्भारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणे क्षणे।।८५।।

अर्थ — भ्रान्त जीव आशा रूपी अग्नि में धनरूपी ईंधन के समूह को डालकर आशा (तृष्णा) अग्नि को प्रदीप्त करते हुए उस काल मे जलते हुए भी अपनी आत्मा को शान्त, सुखी हुआ ऐसा मानता है।

भावार्थ — जैसे कोई बावला थोड़ी अग्नि मे स्वय जल रहा है, फिर उसमे और ईंधन डालकर अग्नि को बढाकर बहुत जलने लगा तब अपने आपको शीतल हुआ मानता है। वैसे ही भ्रम-भाव से युक्त आत्मा आशाओ के कारण स्वयं दु:खी हो रहा है। फिर उन आशाओ मे धनादिक सामग्री का योग कर उनको बढाकर बहुत दु खी होने पर अपने आपको सुखी मानता है। परमार्थत वह सुखी नही होता है। धनादि सामग्री मिलने पर तृष्णा की वृद्धि से दु ख बढता है इसलिए धनादिक दु:ख का कारण है। धनादिक के कारण कुटुम्बादिक हैं सो उन्हे भी दु ख ही के कारण रूप शत्रु समझना चाहिए।

भ्रान्त मान्यताओ वाला जो तू है सो तेरी क्या-क्या स्थिति होती है, सो कहते है -

असमर्थ वृद्धावस्था में कुछ नही किया जा सकता

(आर्या छन्द)

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति।।८६।।

अर्थ — श्वेत केशो के बहाने तेरी बुद्धि की शुद्धता इस शरीर से निकल रही है। तू वृद्धावस्था के कारण असमर्थ हुआ है सो परलोक के सम्बन्ध मे क्या स्मरण-विचार कर सकेगा ? कुछ भी विचार नही हो सकेगा।

भावार्थ — शायद तू ऐसा विचार करता है कि युवावस्था मे तो धन-स्त्री आदि सामग्री जोड़कर इस लोक के सुख भोगे और वृद्धावस्था मे धर्म का सेवन कर परलोक के लिए यत्न करेगे। सो वृद्धावस्था आने पर हम ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो तेरे श्वेत केश निकल रहे हैं, उनके बहाने तेरी बुद्धि की शुद्धता ही निकल रही है। बुद्धि की शुद्धता चले जाने पर वर्तमान मे लोक के कार्यों का भी विचार नही हो सकता है तो परलोक के सम्बन्ध में कैसे विचार हो सकेगा ? अत वृद्धावस्था के पहले ही धनादिक को दु.ख का कारण जानकर परलोक के लिए प्रयत्न करना योग्य है।

बुद्धि की शुद्धता से संयुक्त रहते-रहते निर्मोह चित्त होकर परलोक सम्बन्धी चिन्ता करने-वाले जीव थोड़े हैं, सो कहते हैं -

मोहरूपी ग्राह से दूर रहने-वाले दुर्लभ है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

इष्टार्थाद्यदवाप्ततद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर-
ज्ञानामानसदु:खवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे।
मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवि,
मोहग्राहविदारितास्यविवराद् दूरेचरा दुर्लभा:।।८७।।

अर्थ — संसार रूपी भयानक समुद्र मे मोहरूपी ग्राह के खुले हुए मुख से दूर ही विचरण करने-वाले जीव दुर्लभ हैं। कैसा है संसार-समुद्र? इष्ट विषयों से उत्पन्न कभी तृप्त न होने-वाले सासारिक सुख रूपी खारे जल से परिपूर्ण है। जैसे समुद्र मे खारा जल है, उसे पीने से प्यास नही बुझती वैसे ही संसार मे विषय-सुख है, उससे तृप्ति नही होती। और कैसा है? अनेक प्रकार के मानसिक दु:ख रूपी बड़वानल से तप्तायमान है अभ्यन्तर जिसका ऐसा है। जैसे समुद्र मे बड़वानल है सो जल को सोखता है क्योकि अत्यन्त तप्तायमान है। वैसे ही संसार मे मानसिक दु.ख हैं सो विषय-सुखो को भोगने नही देते, इस प्रकार सन्ताप रूप हैं। जन्म-जरा-मरण रूपी तरगो से ससार-समुद्र चचल है। जैसे समुद्र मे तरंगो की उथल-पुथल होती है वैसे ही ससार मे जन्म-जरा-मरणादि अवस्थाओ का परिवर्तन होता रहता है। ऐसे ससार-समुद्र मे मोहरूपी ग्राह जलचर जीव बसते हैं। वे अपना मुख फाड़े हुए, उदय को व्यक्त कर रहे हैं। इनसे जो दूर विचरण करते है अर्थात् मोहोदय मे तद्रूप होकर विकारी नही होते हैं, वे जीव दुर्लभ हैं, थोड़े है। ससार मे ऐसे जीव घने हो तो ससार कैसे बसे? ऐसे थोड़े हैं - इसी से संसार है।

मोह से दूर रहकर दुर्द्धर आचरण आचरते हुए तेरे यह भली प्रकार से पाला हुआ शरीर हरिणियो द्वारा देखे जाने पर ही धन्य है, ऐसा कहते हैं -

शरीर की कृतार्थता
(मन्दाक्रान्ता छन्द)

अव्युच्छिन्नै: सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यै:,
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम्।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधो मृगीभि-
र्दग्धारण्यस्थलकमलिनीशङ्कया लोक्यते ते।।८८।।

अर्थ — (कैसा है यह शरीर?) अव्युच्छिन्न (जिसमे कभी विच्छेद न हो ऐसे) सुख-परिकर द्वारा

तो पालित किया गया है श्यामाङ्गी स्त्रियो के चंचल नयन कमलो द्वारा पूजित-सम्मानित है, ऐसा यह शरीर है। पर तू तभी धन्य है जब यौवन के मध्य मे ज्ञान प्राप्त कर, तेरा यह (तपश्चर्या से दग्ध) शरीर (मुनिपने मे) स्थल-कमलिनी की आशंका से वन में मृगियो द्वारा अवलोकित हो।

भावार्थ — जैसा अभ्यास होता है, वैसी प्रवृत्ति होती है। अत. दु खिया दु·ख सहे तो सहे, परन्तु पूर्व पुण्योदय से सुख-सामग्री, स्त्री आदि कारणो से परम सुखिया हो रहे थे। तभी ज्ञान पाकर युवावस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण कर ऐसे हो गये कि जिन्हे मृगी समान चचल पशु भी जले हुए ठूँठ सदृश समझती है, ऐसे वे जीव धन्य हैं, सब प्रकार से स्तुति योग्य है। देखो, आत्मज्ञान की कोई ऐसी ही महिमा है। परम सुखी तीर्थंकर, चक्रवर्ती - वे भी दीक्षा धारण कर मेरु समान निश्चल हो गये। बाहुबली आदि ने ऐसा प्रतिमायोग धारण किया कि शरीर से लताये लिपट गईं, सुकुमाल जी के सरसो के दाने भी चुभते थे सो स्यालिनी खाने लगी तो भी निश्चल रहे। इत्यादि जो पुरुष हुए वे धन्य हैं।

'तेरा जन्म भी ऐसे ही सफल होगा, अन्य प्रकार से नही' इसे जताने-वाला सूत्र कहते हैं -

मनुष्य-जन्म कैसे सफल हो ?

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

बाल्ये वेत्सि न किञ्चिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं,
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसुपशो क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्धमृतः क्व जन्मफलितं धर्मो भवेन्निर्मलः।।८९।।

अर्थ — बाल्यावस्था मे तो तू अग (देह) की परिपूर्णता न होने के कारण कुछ भी हित या अहित नही समझता है। यौवन मे स्त्री रूपी वृक्षो के सघनतारूप वन मे भ्रमण करते हुए कामान्ध हो जाता है। मध्य वय मे बढी हुई जो तृष्णा उसके कारण पशु के समान भार ढोने-वाला होकर धनार्जन के लिए खेती आदि कार्य कर क्लेश पाता है। वृद्धावस्था मे तो अर्धमृतक के समान ही हो जाता है। ऐसी तेरी मनुष्य पर्याय है, सो फलवती कब हो ? तेरे निर्मल धर्म कब हो ?[1]

भावार्थ — सब पर्यायो मे मनुष्य पर्याय धर्मसाधन की प्रमुख कारण है। धर्मसाधन से ही मनुष्य पर्याय सफल होती है सो तेरा मनुष्यपर्याय का काल तो इस प्रकार बीत जाता है - बचपन मे तो कुछ हित-अहित का ज्ञान हो सकता नही, युवावस्था मे तू स्त्रियो का रसिक होकर कामान्ध हो जाता है। मध्य अवस्था मे कुटुम्बादिक की वृद्धि हो जाती है अत· उन सबके निर्वाह का विचार कर तू धन उत्पन्न करने के लिए अतिशय खेद-खिन्न होता रहता है। वृद्धावस्था मे इन्द्रियाँ और मन

१ बालपने मे ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो। अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो ? ।। छहढाला, दौलतराम

शिथिल होने से अर्धमृतक की सी अवस्था हो जाती है। इस प्रकार काल बीतने पर धर्म कहाँ सधे ? मनुष्य जन्म कैसे सफल हो ? अत. बाल्यावस्था और वृद्धावस्था मे तो कुछ वश नही चलता परन्तु युवावस्था और मध्यावस्था मे तो स्त्री-परिवारादिक से राग छोड़कर धर्मसाधन करना चाहिए। इसी से तुम्हारा मनुष्य जन्म सफल होगा।

तीनो अवस्थाओ मे बुरा करने-वाला जो कर्म है, उसके वशवर्ती होना अब तुझे योग्य नही, ऐसी शिक्षा देते हुए सूत्र कहते हैं -

कर्माधीन अवस्था मे दु ख ही दु ख हैं

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं,
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नार्पितं यत्त्वयि।
वार्द्धक्येऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं,
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते।।९०।।

अर्थ — वर्तमान मनुष्य पर्याय मे कर्मों ने बाल्यावस्था मे जो कुछ तेरा बुरा किया वह तो याद करने योग्य भी नही है। मध्यावस्था मे धनार्जन के अनेक प्रकारो के माध्यम से ऐसा कोई दु.ख नही बचा जो कर्मो ने तुझे नही दिया हो। वृद्धावस्था मे भी कर्मो ने तेरा अपमान करके दाँत तोड़ने जैसी कठोर चेष्टाये की, सो तू स्वय देख ले। हे दुर्बुद्धि ! अब भी इस कर्म के वशीभूत होकर ही चलना चाहता है?

भावार्थ — लोक मे कोई एक बार भी अपना बुरा करे तो उसे अपना बैरी जानकर कोई उसके आधीन रहना नही चाहता, उसको तो नष्ट करने का ही विचार करता है। कर्मों ने अनादि संसार से जो तेरा बुरा किया उसका तो तुझे स्मरण नही परन्तु इस पर्याय मे बाल्यावस्था मे तो गर्भ, जन्म, शरीरवृद्धि आदि दशाओ से और मध्यावस्था मे धनोपार्जन सम्बन्धी क्रियाओ से तथा वृद्धावस्था मे दाँत तोड़ने आदि अपमानजनित कार्यों से जो तेरा बुरा किया है, सो तू स्वयं देख ही रहा है। इतना सब प्रत्यक्ष देखने के बाद भी तू कर्माधीन ही रहना चाहता है, इसके नाश का उपाय नहीं करता है सो तेरी यह पुरुषार्थहीनता तुझे ही दु.खदायक होगी।

वृद्धावस्था में इन्द्रियादिक की ऐसी प्रवृत्ति देखकर तुझे निश्चिन्त रहना कदापि योग्य नही, ऐसा कहते हैं -

वृद्धावस्था का स्वरूप

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

अश्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति-
श्चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतम्।

भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते,
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्जरे।।९१।।

अर्थ — वृद्धावस्था में कान तो मानो दूसरो के द्वारा किये हुए अपमान, निन्दादि तिरस्कार रूप वचनो को सुनना न चाहने के कारण श्रवण-शक्ति से हीन हो गये हैं, नेत्र हैं सो मानो तेरी निन्द्य दशा देखने मे असमर्थ होने के कारण अन्धपने को प्राप्त हो गये हैं। यह शरीर भी मानो सम्मुख - आगत काल के भय से बहुत कम्पित होने लगा है। ऐसा जरा-जीर्ण शरीर मे तू आग लगे हुए भवन मे निश्चिन्त होकर बैठने के तुल्य निश्चिन्त हुआ बैठा है, सो यह बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ — मरण तो सभी अवस्थाओं मे होता है इसलिए जो बुद्धिमान् होता है वह तो निश्चिन्त बैठता नही, पहले ही परलोक का यत्न करता है। वृद्धावस्था आने पर तो अवश्य ही मृत्यु होने का नियम है, फिर भी विषयादिक के कारण पूर्णत (मन तथा इन्द्रियॉ सभी) शिथिल होने पर भी यही रहने की आशा कर निश्चिन्त हो रहा है सो जैसे कोई अग्नि से जलते हुए भवन मे निश्चिन्त होकर बैठा रहे तो उसका आश्चर्य होता है, वैसे ही तेरी यह दशा देखकर हमको भी आश्चर्य हुआ है अत तुझे निश्चिन्त देख और उपाय का अभाव देखकर तुझे सावधान किया है।

जीव को शिक्षा देते हुए 'अतिपरिचितेषु' इत्यादि सूत्र कहते हैं -

तू तो लोकोक्ति को भी झुठला रहा है

(आर्या छन्द)

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः।
त्वं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः।।९२।।

अर्थ — जिनका बहुत परिचय-ससर्ग होता है, उनमे तो अनादर होने लगता है और नवीन-नवीन विषय-वस्तु मे प्रीति होती है, ऐसी लोकोक्ति है। परन्तु तू तो रागादि (चिर-परिचित) दोषो मे आसक्त होकर सम्यग्दर्शनादि (नवीन) गुणो मे प्रीति न करते हुए इस लोकोक्ति को क्यो झुठला रहा है ?

भावार्थ — लोक मे ऐसी प्रसिद्धि है कि जिसका अतिसेवन होता है उसमे अनादर होने लगता है और जो आज तक नही मिला ऐसे अपूर्व मे प्रीति होने लगती है। सो तेरे रागादिक का सेवन तो अनादि से हो रहा है, फिर भी उसमे तेरी आसक्तता ही देखी जाती है और सम्यग्दर्शनादि के अपूर्व लाभ मे तेरी प्रीति नही है, सो इस लोकप्रसिद्ध उक्ति को भी तू झूठ कैसे कर रहा है, यह बड़ा आश्चर्य है।

विषयों मे आसक्त, व्यसनी तूने हित-अहित की भावना न करते हुए संसार मे मरणादि के दु ख ही प्राप्त किये हैं, इस बात को दृष्टान्तों सहित समझाते हुए सूत्र कहते हैं-

व्यसनी विवेकहीन होते हैं
(वसन्ततिलका छन्द)

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि,
नो सङ्गतं दिनविकाशि सरोजमित्थम्।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव,
प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः।।९३।।

अर्थ — जो हसो के द्वारा नही भोगा गया है, अति कठोर है, जल से एकीभूत नही हुआ है, केवल दिन मे ही विकसित रहता है, ऐसा कमल भी भ्रमर के द्वारा नही देखा गया, वह व्यर्थ ही गन्ध का लोभी होकर इसमे मरा। ठीक ही है, व्यसनी जीवो के अपने हित मे विवेक कहाँ से हो सकता है? अर्थात् नही हो सकता।

भावार्थ — यहाँ अन्योक्ति अलकार के माध्यम से दृष्टान्त से ही दार्ष्टान्त सूचित किया है। जैसे गन्ध के लोभ से कमल पर बैठा हुआ भ्रमर, ऐसा विचार करता है कि इस कमल का हसो ने सेवन नही किया है, यह कठोर है, जल से अलग ही रहता है और रात्रि मे बन्द हो जाता है। कमल पर आसक्त वह भ्रमर उसमे मृत्यु ही प्राप्त करता है, वैसे ही सरागी जीव विषयसामग्री मे सुख के लोभ से उनका सेवन करता हुआ विचार नही करता है कि महान् पुरुषो ने इनका सेवन नही किया है, ये कठोर और दु खदायक है, निर्मल आत्मस्वभाव से भिन्न ही रहने-वाले है। पापोदय आने पर विघटित हो जाते है। यह सरागी जीव व्यर्थ ही पापबन्ध कर नरकादिक का पात्र होता है। अत जो व्यसनी होता है उसके अपने हित का विचार हो नही सकता। आसक्ति होने के कारण पहले तो उसे कुछ प्रतीत नही होता, फल मिलने पर वह स्वय ही दु ख भोगता है।

उस दोष को न देखने का कारण सम्यग्ज्ञान का अभाव है। ससार मे भटकते हुए प्राणी को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अतिदुर्लभ है, ऐसा कहते है -

विवेकी और अप्रमादी रहना बहुत कठिन है
(अनुष्टुप् छन्द)

प्रज्ञेव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम्।।९४।।

अर्थ — संसार मे विचार रूप बुद्धि होनी ही दुर्लभ है, फिर परलोक के लिए होनी तो और भी दुर्लभ है। ऐसी बुद्धि को पाकर भी जो प्रमादी हो रहे हैं वे जीव ज्ञानियो के सोचने योग्य है।

भावार्थ — एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी और कोई-कोई अपर्याप्त सैनी भी इन

जीवों के तो मन का विचार है ही नही। ससार मे इन्हीं पर्यायो मे बहुत काल तक भ्रमण करना पड़ता है, इसलिए पहले तो बुद्धि की प्राप्ति होनी ही कठिन है। क्वचित् कदाचित् किसी को बुद्धि की प्राप्ति हुई तो परलोक सम्बन्धी धर्मरूप विचार होना महाकठिन है। अनन्तबार मन-सहित होने पर भी धर्मबुद्धि तो किसी-किसी जीव के ही होती है। भाग्य से धर्मबुद्धि प्राप्त करके भी जो जीव सावधान नही रहते हैं और धर्मसाधन मे शिथिल रहते हैं, प्रमाद करते हैं, उनकी चिन्ता बुद्धिमानो को होती है कि जो ऐसा अवसर प्राप्त करके भी चूक रहे हैं, इनका कैसा होनहार है ? अत धर्मबुद्धि पाकर प्रमादी होना योग्य नही है।

आगे, अद्‌भुत पराक्रम के धारी जो बुद्धिमान् जीव, लक्ष्मी के विलास की अभिलाषा रखकर राजाओ की सेवा करते हैं, वे भी शोचनीय हैं, ऐसा सूत्र कहते है -

धर्मसेवन के अतिरिक्त अन्य कार्य करना योग्य नही

(वसन्ततिलका छन्द)

लोकाधिपाः क्षितोभुजो भुवि येन जाता-
स्तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या-
स्तेषां बुधाश्च वत किङ्करतां प्रयान्ति।।९५।।

अर्थ — जिस धर्म-विधान से प्राणी लोक के स्वामी राजा हुए हैं, सर्व लोक मे प्रसिद्ध उस धर्मविधान के होते हुए भी, वाछने योग्य है पराक्रम जिनका ऐसे ये ज्ञानी भी राजाओ आदि की किंकरता को प्राप्त करते हैं (अर्थात् उनकी दासता स्वीकार करते हैं), यह दशा भी शोचनीय है, आखिर ऐसा कार्य क्यो करते हैं ? ऐसा विचार करने पर हमे खेद होता है।

भावार्थ — लोक मे यह बात प्रसिद्ध है कि राज्यपद-प्राप्ति धर्म का ही फल है। धर्मसाधन की सब सामग्री मिलने पर धर्मसाधना हो सकती है और स्वय जीव भी धर्म साधने के लिए समर्थ और पराक्रमी है। स्वयं ज्ञानी जीव धर्म के फल को पहचानता है, इतना होने पर भी जो धर्मसाधना तो करे नही और धनादिक का लोभ लिये राजाओ की सेवा करे तो उनकी चिन्ता भी हमे ही है। जिसको करने से राज्यपद प्राप्त हुआ उस धर्म का सेवन छोड़कर वे राजाओ की सेवा क्यो करते हैं? यहाँ भाव यह है कि धर्म का सेवन छोड़कर अन्य कार्य करना कदापि योग्य नही।

अब, औरो के मस्तक झुके हैं चरणो मे जिसके, ऐसे किसी कृष्ण नाम के राजा द्वारा धरे हुए निधान के स्थानक का निरूपण करने के बहाने धर्म का लक्षण, निधान का स्वरूपमार्ग दिखाते हुए सूत्र कहते हैं -

धर्म का फल
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशा प्रदेशः पर.,
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधना मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै।
भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निरासस्ततो,
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहता सर्वार्यसाक्षात्कृतः।।९६।।

अर्थ – इस श्लोक मे श्लेष अलंकार है। एक अर्थ मे तो किसी सर्वार्य नाम के राजमत्री की प्रशंसा है जिसने दुर्गम स्थान पर स्थित किसी कृष्ण नाम के राजा के निधान को प्रकट किया था। दूसरे अर्थ मे धर्म के लक्षणादिक का वर्णन है। पहला अर्थ प्रदेश अर्थात् स्थान सो पर कहिए उत्कृष्ट है। कौनसा स्थान है? कि जिस प्रदेश मे पर्वत हैं? कैसे हैं पर्वत? कि धारण किये हैं बड़े-बड़े बॉस जिन्होने। और कैसे है? कि बुद्धि से ही जिनके अन्त का पता लग सकता है, इतने बड़े है। और कैसे है? कि शोभा के लिए जिन्होने शिखर रूप मे ऊँचाई रूप धन को धारण किया है। ऐसे पर्वतो से युक्त कोई प्रदेश है। फिर उस प्रदेश का मार्ग भी बड़ा दुर्गम है, सर्पों से परिपूर्ण है, जहॉ आशा (दिशा) भी ज्ञात नही होती अर्थात् दिशाओ की शुद्धि नही रह पाती - ऐसा जिसका मार्ग है सो ऐसा प्रदेश जैसे सब व्यक्तियो द्वारा जान लिया जाए उस रूप मे कहा भी नही जाता। हे आर्य ! ऐसे उस विषम प्रदेश को सर्वार्य नाम के किसी दूसरे राजमत्री ने जान लिया है, जाकर प्रत्यक्ष देख लिया है। इस प्रकार एक अर्थ से सर्वार्य मत्री की प्रशसा की गई है। दूसरा अर्थ प्रदिश्यते अर्थात् पर को उपदेश करिए ऐसा जो प्रदेश यानी धर्म, वह धर्म उत्कृष्ट है। कैसा है धर्म? कि जिसके होने पर राजा लोग प्रजाजनो के द्वारा लक्ष्मी- विभूति के लिए मस्तक पर धारण किये जाते हैं। सम्पूर्ण लोक लक्ष्मी-वैभव सम्पन्नता के कारण राजाओ को मस्तक नवाते हैं। सो राजाओ को यह सम्पन्नता धर्म के प्रसाद से ही प्राप्त होती है। कैसे हैं राजा ? कि धारण किया है इक्ष्वाकु आदि वश को जिन्होने (ऐसे हैं)। और कैसे हैं ? कि बुद्धिमान् हैं। और कैसे हैं ? कि जिन्होने उन्नतता, गौरव और धन के भण्डार को धारण किया है। ऐसे राजा जिस धर्म के कारण से ही प्रधान होते है, उस धर्मरूप प्रदेश का मार्ग दान, व्रतादि भेदों से परिपूर्ण है, अनेक प्रकार का है। और आशा यानी इच्छा, उससे रहित है। भुजगम यानी कामी पुरुषो के लिए दुर्गम है, अगोचर है। ऐसे उस मार्ग को आर्यजन जो भोले है, उनमे जो हम बड़े हैं सो हम भी उस मार्ग को प्रकट करने मे असमर्थ हैं। हमारी इतनी शक्ति नही कि उस मार्ग को प्रकट कह सके। वह मार्ग समस्त आर्यों मे श्रेष्ठ गणधरादि सत्पुरुषो द्वारा तथा सबके द्वारा सेवनीय है, उस मार्ग को सर्वार्य अथवा सर्वज्ञदेव ने प्रकट किया है। उनके द्वारा प्रकट किया हुआ धर्म मार्ग सबके द्वारा प्रतीति (विश्वास) करने योग्य है।

भावार्थ – यहॉ किसी प्रसंग मे सर्वार्य मंत्री की तो प्रशंसा की है और इसी के दूसरे अर्थ मे धर्म का फल अथवा धर्म का मार्ग करने-वाले का स्वरूप कहा है।

शरीरादिक से वैराग्य उत्पन्न कर जीवो को धर्म और धर्म का मार्ग दिखाने-वाले मुनियो को किसी भी प्रकार के फल की इच्छा नही है, पर के उपकार के लिए ही उनकी प्रवृत्ति है। 'परोपकाराय सता हि चेष्टित' ऐसा नीतिवचन भी है, इसे ही दर्शाने-वाला सूत्र कहते है-

साधुजन अकारण बन्धु होते है
(शिखरिणी छन्द)

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जन. प्रीतिमधिकाम्।
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते,
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महत.।।९७।।

अर्थ — सब प्रकार से अपवित्र तथा शारीरिक और मानसिक बहुत दु खो के स्थान रूप इस शरीर मे रहते हुए यह मनुष्य जानते हुए भी इससे विरक्ति प्राप्त नही करता अपितु इससे अधिकाधिक प्रीति करता है। सामान्यजन का तो यह स्वभाव है। मुनिजन अपने श्रेष्ठ उपदेश मे शरीरासक्त मनुष्यो को शरीर से विरक्त करने का प्रयत्न करते है। महान् मुनियो के परहित करने मे ऐसा अनुराग होता है, तू उसे देख।

भावार्थ — जिसे अन्य जीव भला समझे और अपने प्रयोजन की सिद्धि हो - ऐसी सीख देने-वाले तो बहुत है परन्तु मुनियो के तो परहित मे अनुराग है। यह मनुष्य तो प्रत्यक्षत शरीर को अपवित्र और दुःख का कारण जानते हुए भी इससे विरक्त नही होता अपितु इसमे और अधिक प्रीति करता है, जबकि मुनिराज - जैसे कोई दयावान् दीपक मे गिरते हुए पतगे को बचाता है उसी प्रकार - इसे सम्यक् उपदेश देकर शरीर से विरक्त करते है। यद्यपि मुनिराज का ऐसा उपदेश इसे कडुवा भी लगता है, फिर भी मुनिराज यह जानकर कि यह (शरीरासक्त जन) बहुत दु खी होगा अत दया कर उपदेश दिया ही करते हैं। उन मुनियो के अन्य किसी प्रकार की कोई अभिलाषा नही है, देखो, महान् जन तो परोपकारी होते ही हैं।

जीव तो शरीर से विमुख नही होता और मुनिराज अपने सार-उपदेशो से उस जीव को शरीर से विमुख करते हैं, सो ऐसा क्यो करते है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते है -

शरीर सब विपदाओ का घर है
(वसन्ततिलका छन्द)

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन,
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।

एतावदेव कथितं तव संकलय्य,
सर्वापदां परमिदं जननं जनानाम्।।९८।।

अर्थ – ऐसा है, वैसा है, इस प्रकार बहुत कहने से क्या सिद्ध होने-वाला है ? (कुछ भी नही)। हे जीव ! तूने इस ससार मे शरीर को बार-बार भोगा और छोड़ा है। अब तेरे लिए साररूप सक्षेप मे इतना ही कहा है कि जीवो के यह शरीर ही सब आपदाओ का स्थान है।

भावार्थ – दार्ष्टांत रूप बहुत कहा। अब यदि तेरा भला नही होना है तो अधिक कहना निष्फल है। तूने ही अनादिकाल से शरीर धारण कर उसमे अनेक दु ख भोगे, फिर उसे छोड़ कर नवीन शरीर धारण किया (फिर उसे छोड़कर नवीन धारण किया, इस प्रकार अनेक दु ख भोगता रहा) अत· हम संक्षेप मे अब इतना ही कहते हैं कि शरीर ही जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा, रोगादि सब दु खो का घर है अत इससे विरक्त-विमुख होकर, जिससे शरीर के सम्बन्ध का अभाव हो ऐसे उपाय करना ही उचित है।

इस शरीर (मनुष्यशरीर) को धारण करते हुए गर्भावस्था मे क्या-क्या करते हुए कैसी दशा होती है, सो कहते है -

मनुष्य पर्याय के गर्भ-जन्म के दु ख
(मन्दाक्रान्ता छन्द)

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्त· प्रतीच्छन्-
कार्मायत्त सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या।
निष्यन्दात्माकृमि सहचरो जन्मनि क्लेशभीतो-
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि।।९९।।

अर्थ – हे प्राणी! तू माता के उदर रूपी विष्टा-स्थान मे कर्माधीन हुआ बहुत समय तक बढने के लोभ से अन्तर्वान्त (माता द्वारा चबाये हुए अन्न) की अपने मुखरूपी छेद मे इच्छा करता रहा। अपना मुख फाड़े रहा कि कोई बूँद मुख मे आ पड़े। कैसा है यह प्राणी? कि भूख-प्यास से पीड़ित है और उदर के संकीर्ण क्षेत्र मे इसका हिलना-चलना भी नही बन पाता, साथ ही उदर मे उत्पन्न होने-वाले लट-कृमि आदि जीवो का सहचारी साथी बना है। गर्भ मे इस जीव की ऐसी दशा होती है, सो हे प्राणी ! मैं ऐसा मानता हूँ कि जन्म के समय इतने क्लेश-कष्ट होते है, अत उनसे डरा हुआ तू मरण से भी डरता है क्योकि मरण नवीन जन्म का कारण है।

भावार्थ – शरीर के सम्बन्ध से नरकादि मे जो दु.ख होता है वह तो दूर ही रहो, तूने यह उत्तम मनुष्य-पर्याय प्राप्त की है, उसको ग्रहण करते समय माता के गर्भ मे तुझको कैसा दु ख हुआ था, उसका तो चिन्तन कर। हम तो यह मानते है कि जो तू मरने से डरता है सो इसलिए कि मरण

होने पर फिर नवीन जन्म धारण करना होगा। गर्भ और जन्म के समय तूने जो दु ख पाये हैं उनके डर से ही तू मृत्यु से भयभीत हो रहा है। शरीर की उत्पत्ति मे ऐसे दु ख जानकर तू ऐसे उपाय कर कि जिससे फिर जन्म का दुःख न भोगना पड़े।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व जितनी भी पर्याये प्राप्त की उनमे किया गया आचरण स्वय अपने घात के लिए ही हुआ, ऐसा कहते हैं -

अज्ञान से स्वय ने ही अपना नाश किया

(वशस्थ छन्द)

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया, विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा।
यदत्र किञ्चित् सुखरूपमाप्यते, तदार्य विद्ध्यन्धकवर्तकीयकम्।।१००।।

अर्थ – हे आर्य ! हे भोले जीव! तूने इस पर्याय से पहले 'अजाकृपाणीय' कार्य किया। जैसे किसी अजा-बकरी को मारने के लिए कोई छुरी चाहता था सो उस बकरी ने ही अपने खुरो से खोद कर छुरी निकाल दी जिससे उसी की मृत्यु हुई। इसी प्रकार जिस कारण से तेरा घात होता है, बुरा होता है, वही कार्य तूने किये हैं। कैसा है तू? हेयोपादेय के विकल्प का विचार करने मे मूर्ख है। इस ससार मे जो कुछ सुख रूप विषयादिक तूने प्राप्त किये हैं उनको तू अधकवर्नकीयक अर्थात् अन्धे के हाथ बटेर लगने के समान जान। जैसे अन्धा ताली बजा-बजाकर बटेर को पकड़ने का प्रयत्न करे तो यह बड़े आश्चर्य की बात है, वैसे ही ससार मे थोड़ा-सा भी सुखी होने को बड़ा आश्चर्य समझना चाहिए।

भावार्थ – हे जीव ! तूने बकरी की छुरी के समान अपना बुरा होने का काम किया। इस पर्याय मे तुझे विषयो के सेवन से कुछ सुख-सा हुआ इसलिए तू यह सोच रहा है कि तेरी ऐसी ही दशा रहेगी। ऐसा जानकर तू निश्चिन्त हुआ है। सो ऐसी भी दशा इस ससार मे 'अन्धे के हाथ लगी बटेर' की भाँति हो गई है, अत इसके भरोसे निश्चिन्त बैठना ठीक नही।

सुख उत्पन्न करने-वाली वस्तुओ के अभिलाषी जीवो की 'काम' क्या दशा कर देता है, सो बताते हैं–

काम-सुख चाहने-वालो की दशा

(वसन्ततिलका छन्द)

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते-
दग्धुं तपोग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते।।१०१।।

अर्थ — हाय ! यह भी बड़ा कष्टजनक है कि जो अपने आपको पण्डित, ज्ञानी मानता है, उसे भी यह प्रचण्ड काम अवसर के बिना ही इष्ट स्त्रियों का निमित्त मिलाकर खण्डित कर देता है। ज्ञानीपने के खण्ड-खण्ड कर महादुःख उत्पन्न करता है। फिर भी तू यह आश्चर्य देख कि उस अपने खण्ड-खण्ड होने को तो धीर-वीरपने से सहता है परन्तु इस 'काम' को तपरूपी अग्नि मे जलाने को उत्साहित नही होता।

भावार्थ — देवता पर्यन्त सब जीवो को काम सताता है। जो अपने आपको ज्ञानी मानते हैं उनको भी यह काम स्त्रियो के निमित्त से भ्रष्ट कर उनको दु:ख उत्पन्न करता है, जैसे कोई बुद्धिमान बना रहता है और उसको कोई बाणो के द्वारा छेद देता है तो भी वहाँ साहस कर बाणो की तो मार खाया करता है परन्तु बाण चलाने-वाले को मित्र जानकर उसके नाश का उपाय नही करता, उसकी पुष्टता ही करना चाहता है तो यह बड़े आश्चर्य की बात है, वैसे ही कोई अपने आपको ज्ञानी मानता है तो काम उसे स्त्री रूपी बाणो के द्वारा पीड़ित करता है, सो उनकी पीड़ा तो यह सहता रहता है और काम को हितैषी जान, तपरूपी अग्नि मे उसको भस्म करने का उपाय नही करता अपितु अनेक सामग्रियो द्वारा उसकी पुष्टता ही करना चाहता है। सो यह बड़े आश्चर्य की बात है।

काम (विषयेच्छा) को जलाने के लिए उत्साहित हुए जीव क्या करते हैं, सो बताते हैं -

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट त्याग

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्,
पापां तामवितर्पिणी विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगाप्यन्यो न पर्यग्रही-
देते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः।।१०२।।

अर्थ — कोई त्यागी तो विषयो को तिनके के समान अकार्यकारी विचार कर लक्ष्मी के अभिलाषी याचको को या पुत्रादिक को दे गये। कुछ अन्य त्यागियो ने लक्ष्मी को पाप रूप और तृप्ति की करने-वाली न जानकर अपनी इस मान्यता के कारण किसी को भी न दी अर्थात् ऐसे ही सम्पत्ति छोड़ गये। सौभाग्यदशा को प्राप्त कुछ अन्य त्यागियो ने उस लक्ष्मी को पहले ही अकल्याणकारी विचार कर ग्रहण ही नही किया। इस प्रकार इन तीनो सर्वोत्कृष्ट त्यागियो को तुम उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जानो।

भावार्थ — जो सर्व धनादि सामग्री का त्याग करते हैं वे सर्वोत्कृष्ट त्यागी कहे जाते हैं। इनमे जो पुत्रादिक को धनादि देकर त्याग करते हैं, वे भी उत्कृष्ट त्यागी हैं। जो स्वय तो किसी को नही

देते, ऐसे ही धनादिक का त्याग करते है वे त्यागी जीव उनसे भी (पहले वालो से) उत्कृष्ट त्यागी हैं क्योकि उनके तो कुछ कषायाश से किसी को देने के परिणाम हुए परन्तु इनके तो ऐसी विरक्ति आई कि जो लेना चाहे ले ले, हमे इससे कोई प्रयोजन नही। तीसरे प्रकार के त्यागी वे है जो पहले से ही धनादिक को ग्रहण नही करते, कुमारावस्था मे ही उनका त्याग कर देते हैं, वे उनसे भी उत्कृष्ट त्यागी हैं क्योकि उन्होने तो भोगकर त्याग किया परन्तु इनके तो ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि भोगने के परिणाम ही नही हुए। इस प्रकार इन सर्वदत्ति के दातारो को अनुक्रम से उत्कृष्ट जानना।

उत्कृष्ट सम्पदा प्राप्त करके भी जो सत्पुरुष इसे छोड़ते हैं तो इसमे कुछ भी आश्चर्यजनक नही, यह दर्शाने-वाला सूत्र कहते है -

सम्पत्ति-त्याग मे क्या आश्चर्य !

(अनुष्टुप् छन्द)

विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजति किमिहाद्‌भुतम्।
मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम्।।१०३।।

अर्थ — सत्पुरुष हैं जो विरक्त होकर सम्पदाओ को छोड़ते हैं सो इसमे क्या आश्चर्य है ! क्या ग्लानि सहित पुरुष भले प्रकार से भक्षण किए हुए भोजन का भी वमन नही करते ? अपितु अवश्य करते हैं।

भावार्थ — राग भाव होने पर तो त्याग करने से दु ख होता है। दु ख सहना कठिन है। इसलिए सरागी पुरुष त्याग करे तो वहॉ आश्चर्य मानना चाहिए। वैराग्य होने पर त्याग करने मे कोई खेद नही होता अपितु सुख ही होता है। और ऐसा कौन है जो सुख को न चाहता हो, इसलिए विरक्त पुरुष यदि त्याग करे तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही। जैसे किसी ने भोजन किया था, भोजन करने के बाद उसके ऐसी ग्लानि हुई कि इस भोजन से तो मेरे प्राण चले जायेगे, तब वह पुरुष प्रयत्न करके भी उस भोजन को वमन करके निकालता है, उसी प्रकार प्राप्त विषयो मे - इनके सेवन से मेरा बुरा होगा, ऐसी उदासीनता आने पर उपाय करके भी उनका त्याग करता है, इसमे आश्चर्य की कोई बात नही।

लक्ष्मी को छोड़ते हुए लोग क्या-क्या कहते हैं, सो बताते है -

धन-दौलत जाते समय दशा

(अनुष्टुप् छन्द)

श्रिय त्यजन् जड· शोकं विस्मय सात्विक· स ताम्।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम्।।१०४।।

अर्थ — मूर्ख पराक्रम-रहित पुरुष तो लक्ष्मी का त्याग करते हुए शोक करता है। सात्विक

पराक्रम का धारी पुरुष गर्व करता है और तत्त्वज्ञानी पुरुष उस लक्ष्मी का त्याग करते हुए न शोक करता है, न गर्व करता है, सो यह बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ — संसारी जीवों के धनादिक जाते समय दो प्रकार के भाव होते हैं। जो पराक्रम रहित हैं, उनके किसी कारण से धनादिक का त्याग होवे तो वे शोक करते हैं। (वे सोचते है कि) ऐसा कैसे और क्यो हुआ ? इस प्रकार उनके अन्तरंग में खेद उत्पन्न होता है। जो पराक्रम के धारक हैं, उनके किसी कारण से या अपने ही उत्साह से धनादिक का त्याग होता है तो वे गर्व करते हैं कि मैने ऐसा किया। इस प्रकार उनके अन्तरग मे अहकार पैदा होता है। किन्तु यह आश्चर्य देखो कि तत्त्वज्ञानी पुरुष के धनादिक का त्याग होने पर शोक और गर्व दोनो ही नही होते, क्योकि ज्ञानी धनादिक को परद्रव्य मानते हैं। अत परद्रव्य का त्याग होने पर खेद (शोक) और गर्व दोनो ही नही करते है।

विवेकी पुरुष जिस प्रकार लक्ष्मी का त्याग करते है, उस प्रकार शरीर का भी त्याग करते है - यह दर्शाते हुए सूत्र कहने हैं -

तत्त्वज्ञानी सत्पुरुष को शरीर जाते हुए भी दु ख नही होता

(शिखरिणी छन्द)

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं,
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम्।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः,
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशाम्।।१०५।।

अर्थ — गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त इस शरीर मे व्यर्थ क्लेश, अपवित्रता, भय, पराभव (तिरस्कार) और पापादि ही प्राप्त किये हैं। भली प्रकार से विचार करने पर तो ऐसा यह शरीर ज्ञानियो द्वारा तजने योग्य है। फिर इसके त्याग से यदि मुक्ति हो तो ऐसा मूढबुद्धि कौन है जो इसका त्याग करने मे उत्साहित न हो ? कैसा है यह शरीरादिक - कि दुष्टजन के मिलाप के समान (दुःखदायक) है।

भावार्थ — दु ख, अपवित्रता, भय, अपमान और पाप ये जहाँ एक-एक भी थोड़े-थोड़े भी होवे तो विवेकी पुरुष उनको छोड़ देता है, सो शरीरादि मे ये सभी सघन रूप मे सदैव प्राप्त है अत ये विवेकी पुरुषो के द्वारा छोड़ने योग्य ही हैं। यदि कोई अन्य लाभ न भी हो तो भी इनको छोड़ना चाहिए; फिर यदि इनके छोड़ने से मोक्ष होता हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो इनको न छोड़ेगा ? जैसे दुष्ट का मिलाप दु:खदायक है वैसे इनको सब प्रकार से दु खदायक जानकर छोड़ना ही योग्य है।

जैसे लक्ष्मी और शरीर को अनेक प्रकार अनर्थों का कारण जानकर छोड़ा जाता है वैसे ही रागादिक भी छोड़ने चाहिए, ऐसा कहते हैं -

रागादिक भी छोड़ने योग्य है

(वंशस्थ छन्द)

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्यप्रतिलोमवर्तिभिर्ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्।।१०६।।

अर्थ — हे भव्य ! तूने कुज्ञान, रागादि रूप विरुद्ध चेष्टाओ से बारम्बार जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है अतः अब तू ऐसी प्रतीति कर कि 'जो इनसे विपरीत प्रवृत्ति करूँ', ताकि इस फल से विपरीत लक्षण वाले फल को तू निश्चय रूप से प्राप्त करेगा।

भावार्थ — लोक मे भी जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है उससे उलटा कारण होने से उलटा ही फल भी उत्पन्न होता है। जैसे गर्मी से जो रोग होता है वह उसके विपरीत शीतल वस्तु से ही नष्ट होता है। अत· हे भव्य ! तूने अज्ञान, असंयम के कारण ही जन्म-मरणादि दु ख रूप फल पाया है। क्योकि जिस कारण से एक ही बार कार्य उत्पन्न होता है वहॉ तो भ्रम भी ऐसा हो सकता है कि किसी और ही कारण से यह कार्य हुआ होगा। परन्तु ससारी जीवो के बारम्बार अज्ञान, असंयम ही का सेवन दिखाई देता है और जन्मादि का दु ख होता दिखाई देता है। अत यहॉ भ्रम भी नही है। जैसे जब कोई चीज खाई जाए तब ही रोग उत्पन्न हो तो जान लिया जाता है कि यही इस रोग का कारण है और जो दूसरो के ही हुआ हो तो भी भ्रम हो सकता है। अत. तू ही विचार कर कि 'मैं कैसे परिणामो से कैसा फल प्राप्त करता हूँ ?' क्योकि तुझको यह फल बुरा लगता है अत जो तू अज्ञानादि रूप परिणमता है तैसे परिणमन करना छोड़। अज्ञान और असयम से उलटे तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं, इनका सेवन करने पर उस जन्मादि रूप फल के विपरीत अविनाशी सुखरूप मोक्षफल प्राप्त होता है, इसमे किसी प्रकार का भ्रम नही है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सेवन करने-वाले थोड़े हैं, उनके तत्काल ही अज्ञान, असयमजनित आकुलता मिटने से कुछ सुख होता है, सम्यग्ज्ञान और चारित्र के अधिक सेवन से बहुत सुख होता दिखाई भी देता है। जैसे किसी औषधि का सेवन करने पर रोग घटता दिखाई दे तो यह ज्ञान भी होता है कि इसके सेवन से सम्पूर्ण रोग का भी नाश हो जाएगा। ऐसे ही यहॉ भी निश्चय करना कि सम्यग्ज्ञान-चारित्र के सेवन से सम्पूर्ण दु खो का नाश होगा अत इनका सेवन करना युक्त है, उपयुक्त है।

ऐसे फल की अभिलाषा करते हुए तू उस मार्ग मे प्रवृत्ति कर, सो कहते है -

सम्यक्मार्ग पर कपटरहित होकर गमन कर

(वशस्थ छन्द)

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ।।१०७।।

अर्थ — स्व-पर जीव की करुणा सो दया, इन्द्रियो और मन को वश मे करना सो दम, पर - वस्तुओं में राग छोड़ना सो त्याग और वीतराग दशारूप सुखी होना सो समाधि - इनकी जो परिपाटी है उसके मार्ग में तू यत्न सहित और कपट रहित प्रवृत्ति कर। यही मार्ग है, इससे तू वचन-अगोचर और विकल्पों से रहित ऐसा जो परमपद है, उसे अवश्य प्राप्त करेगा।

भावार्थ — जैसे कोई अपने इष्ट नगर के सही मार्ग पर सीधे-सीधे चलता रहे तो वह उस नगर में पहुँचेगा ही पहुँचेगा, वैसे ही जो मोक्ष के सच्चे मार्ग सम्यग्ज्ञान-चारित्र मे गर्भित दया, दम आदि गुणों मे कपटरहित होकर प्रवृत्ति करता है वह तो मोक्ष को प्राप्त करेगा ही। 'मैं साधन करूँ और सिद्धि न हो' तो - ऐसे भ्रम से शिथिल मत हो, इस साधन से सिद्धि अवश्य होती है।

विवेकपूर्वक परिग्रह का त्यागरूप मार्ग जीव को मोक्षपद की प्राप्ति कराने-वाला है, इस बात को दृढ़ करते हुए सूत्र कहते हैं -

चारित्र का माहात्म्य

(आर्या छन्द)

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते।।१०८।।

अर्थ — जैसे पवन-साधन आदि विधि से कुटी-प्रवेशन क्रिया शरीर को निर्मल करती है, वैसे ही भेदविज्ञान से नष्ट हो गया है मोह जिनका ऐसे जीवो को परिग्रह का त्याग अवश्यमेव अजर-अमर करता है।

भावार्थ — भेदविज्ञान से मोह का नाश करना सो सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन है। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना सो सम्यक्चारित्र है। सो यदि सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्चारित्र अगीकार करे तो साक्षात् मोक्षमार्ग से होकर मोक्ष को प्राप्त करे, इसमे कुछ भी सन्देह नही है। क्योकि सब कारणो के मिल जाने पर कार्य का होना दुर्निवार नही है। रत्नत्रय मे कोई दीन हो तो मोक्ष होने मे सन्देह हो, मोक्ष के सब कारण (तीनो - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) मिलने पर तो मोक्ष होगा ही होगा। ऐसा निश्चय करना चाहिए।

विवेकपूर्ण त्यागी पुरुषो मे सर्वोत्तम त्याग करने-वाले पुरुष की सराहना करते हुए सूत्र कहते हैं -

सर्वोत्कृष्ट त्यागी को नमस्कार

(अनुष्टुप् छन्द)

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे।।१०९।।

अर्थ — यह अत्यन्त आश्चर्यजनक कार्य है कि जिसने बिना भोगे ही विषयो का त्याग कर समस्त विषयों को अपने उच्छिष्ट के समान कर दिया, ऐसे कुमार ब्रह्मचारी के लिए हमारा नमस्कार हो।

भावार्थ — पहले तीन प्रकार के त्यागी कहे हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट त्यागी वे हैं जिन्होंने भोगसामग्री का निमित्त प्राप्त कर भी विरक्तिपूर्वक उसको बिना भोगे ही छोड़ा है और कुमारावस्था में ही दीक्षा धारण की है। यदि कोई भोग भोगकर उन्हे छोड़ता है तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं। इन्होंने तो सामग्री मिलने पर भी बिना भोग किये ही त्याग किया सो इनका बड़ा आश्चर्य है। जैसे किसी के आगे भोजन परोसा और वह उसको बिना खाए ही छोड़ दे तो उसका नाम जूठन है, वैसे ही इन्होंने सब विषय बिना भोग किये ही छोड़े इसलिए सब विषय इन्होने जूठन समान कर दिये. ऐसे उत्कृष्ट त्यागियों को हमारा नमस्कार है।

ऐसे उत्कृष्ट त्यागी जीवो के परम उदासीनता रूप चारित्र का प्रतिपादन करने-वाला सूत्र कहते हैं -

त्रैलोक्याधिपति बनने का रहस्य

(अनुष्टुप् छन्द)

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवे·।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः।।११०।।

अर्थ — मैं अकिंचन हूँ, कुछ भी मेरा नही, तू ऐसी भावना कर। ऐसी भावना करने से शीघ्र ही तीन लोक का स्वामी होगा। योगीश्वरो को गम्य ऐसा परमात्मा का रहस्य तुझको कहा है।

भावार्थ — अज्ञानता के कारण पर में ममत्व है, पर अपना होता नही इसीलिए तू हीन दशा को प्राप्त हो रहा है। किन्तु जब यही भावना हो कि कोई भी परद्रव्य मेरा नही, तब यही परम उदासीनता रूप चारित्र होता है जिसके फलस्वरूप-तीनो लोक, जिसे अपना स्वामी माने, ऐसा पद प्राप्त होता है। यह रहस्य योगीश्वर ही जानते हैं सो हमने तुझे कहा है। तू भी ऐसी ही भावना कर - यह शिक्षा हमने दी है।

अब तपाराधना के स्वरूप का वर्णन करने के लिए 'दुर्लभ .....' इत्यादि सूत्र कहते हैं -

तपाराधना ही करणीय है

(आर्या छन्द)

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम्।।१११।।

अर्थ — मनुष्य-पर्याय दुर्लभ है, अपवित्र है, सुखरहित है, इसकी मृत्यु का समय भी विदित नही है और इसकी उत्कृष्ट आयु भी अल्प है। परन्तु तपश्चरण केवल इस मनुष्य-पर्याय मे ही हो सकता है और मुक्ति केवल तपश्चरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, अत. मनुष्य-पर्याय प्राप्त कर तपश्चरण ही करना योग्य है।

भावार्थ — आत्मा का हित मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति तप के बिना नहीं होती। अत. सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पूर्वक तपाराधना करे तो साक्षात् मोक्षमार्गी होता है। तप जो है वह केवल मनुष्य-पर्याय में ही होता है। अन्यत्र भी कहा है -

देवा विसयासत्ता णेरइया विवीहदुहसंयुत्ता।
तिरिया विवेयवियला मणुआणं धम्मसंपत्ती।।

अर्थ — देव तो विषयासक्त होते हैं, नारकी तीव्र दु.खों से सदा सन्तप्त रहते हैं और तिर्यश्च विवेकहीन होते हैं इसलिए मनुष्यो ही के धर्म की प्राप्ति होती है। फिर मनुष्य-पर्याय यदि बार-बार मिले और प्राप्तपर्याय मे तप न किया तो आगामी पर्याय मे कर लें - परन्तु अनन्तानन्त काल बीतने पर भी मनुष्य-पर्याय पाना दुर्लभ है। और फिर, देवगति के समान यहाँ सुख उपलब्ध हो तो सुखों को छोड़कर तप करना कठिन लगे, सो यह बात भी नही, यहाँ तो शारीरिक और मानसिक दु:खो की ही मुख्यता है। अत· दु:खों को छोड़कर तपश्चरण करने में किस बात का खेद ? हाँ, यदि मनुष्य का शरीर सुन्दर हो तो (तप के कारण) उसके बिगड़ जाने का भय होवे, सो भी बात नही क्योंकि यह तो धातु-उपधातुओ से उत्पन्न महा अपवित्र है, इसको तपश्चरण मे संलग्न करने में कैसा भय ? अर्थात् कोई भय नही है। और फिर, देवगति के समान मृत्यु का निश्चय होवे तो भी कितनेक काल तक तो निश्चिन्त रहे, पीछे तप करे, सो भी बात नही क्योकि मनुष्य के मरने का कुछ भी निश्चित नही कि कब मरेगा। फिर यदि उत्कृष्टायु भी लम्बी हो तो मेरी आयु उत्कृष्ट ही होगी, इस भ्रम में शिथिलता भी की जाए परन्तु उत्कृष्टायु भी थोड़ी अत तुझे प्रमादी नहीं होना चाहिए और सब प्रकार से पूर्ण सावधान होकर तपश्चरण ही करना चाहिए, यही उपयुक्त है।

बारह प्रकार के तपो मे मुक्ति का निकट साधन ध्यान रूप तप है, उसका ध्येय व फल आदि दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं -

समाधि मे किसी प्रकार का कष्ट नही

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां सम्मता,
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम्।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं,
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः।।११२।।

अर्थ — समाधि में तीन जगत् के गुरु भगवान् उनकी तो आराधना करनी और सन्त पुरुषों के द्वारा सम्मत प्रवृत्ति अंगीकार करनी। उस समाधि मे भगवान् के चरणो का स्मरण करना - इतना ही क्लेश है और कर्मों का प्रकर्षरूप से क्षय होना - इतना ही खर्च है। मोक्षसुख साधने रूप

फल है और काल भी कितना कि परिमाण लिये हुए अल्प ही है और मन साधन है। हे ज्ञानी ! तुम भली प्रकार से अपने मन में विचार तो करो कि समाधि मे क्या कष्ट है।

भावार्थ — कोई शायद यह कहे कि तप मे कष्ट है और कष्ट सहन नहीं किये जाते, उसे कहते हैं - सब तपों मे उत्कृष्ट तप ध्यान है। उसमे क्या कष्ट है सो तू बता - प्रथम तो यदि नीच पुरुष का सेवन करें तो लज्जादिक का कष्ट होवे सो ध्यान मे यह बात है नही, वहाँ तो तीन लोक के स्वामी अरिहन्तादिक का ध्यान अथवा तीन लोक के ज्ञायक आत्मा की आराधना करनी है। और फिर यदि आपको नीच कार्य करने पड़े तो कष्ट होवे, सो भी बात नही, जिस वृत्ति की सराहना महन्त पुरुष भी करें ऐसी वृत्ति अंगीकार करनी है। आराधना मे कुछ क्लेश होवे तो खेद उत्पन्न हो - सो बात भी नही, बस, भगवान् आत्मा के चरण अथवा आचरण का ही तो स्मरण करना है। और फिर साधन करते कुछ अपना नष्ट होता हो तो भी दु ख हो, सो जिसका नाश करना चाहते हैं ऐसे उन कर्मों का ही नाश होता है, अपना कुछ खर्च होता नही। यदि साधन का फल तुच्छ हो तो भी कुछ कार्यकारी नही परन्तु ध्यान का फल तो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष है। यदि बहुत समय पर्यन्त साधना करनी पड़े तो वहाँ भी खेद उत्पन्न हो, सो ऐसी बात भी नही, थोड़े ही समय पर्यन्त ध्यान करने से फल की प्राप्ति होती है। यदि साधनो की पराधीनता हो तो भी खेद पैदा हो सकता है परन्तु (ध्यान मे तो) अपने ही मन का साधन करना है, उसे अन्य विचारो से छुड़ाकर भगवान् मे लगाना है। अत ऐसे ध्यान रूप तप मे कैसा क्लेश - खेद है ? तू ही विचार कर, तप करने मे अनादर मत कर। कोई यह कहे कि ध्यान में तो कष्ट नही है परन्तु अनशनादि तप मे तो कष्ट है, उसको उत्तर देते हैं - अनशनादि तप मे भी कष्ट तब होता है जब स्वय करना न चाहता हो। किन्तु यहाँ तो जिससे अपना परिणाम प्रमादी न हो और क्लेशरूप भी न हो अत· ध्यान की सिद्धि के लिए इच्छापूर्वक अनशनादि किये जाते हैं सो इनमे भी कष्ट नही होता है।

आत्मकल्याण रूप मोक्ष के वाञ्छक पुरुषो को तप के अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री वाछित फल की देने वाली नही होती, सो कहते हैं -

तप ही अभीष्ट फल-प्रदाता है

(हरिणी छन्द)

द्रविणपवनप्राध्माताना सुखं किमिहेक्ष्यते,
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खल.।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांसवो,
वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम्।।११३।।

अर्थ — धन सम्बन्धी विचार रूप पवन से धमाए हुए (भड़काए हुए) सतप्त जीवो को यहाँ

कहाँ सुख दिखाई देता है (अर्थात् कही नही)। यह दुष्ट काम रूप शिकारी इस अदुष्ट आत्मा को भी दुष्ट कर देता है। (वित्त और काम की चाह रखने-वाले तो सदैव ही कष्ट मे हैं) परन्तु क्या कष्ट रूपी धूल तपस्वी के चारित्र को स्पर्श करने मे भी समर्थ है, अपितु नही है। अब तुम ही कहो मनोवाछित प्रयोजन की सिद्धि में तप से भिन्न, मानने योग्य क्या और कोई साधन है ? अपितु नही है।

भावार्थ — जगत् में यह जीव जितने कार्य करता है सो मानादिक के लिए करता है। अपने प्राण देकर भी यह बड़ा होना चाहता है। मानादिक के लिए धनादिक सामग्री मिलाने की आर्तिरूप वाञ्छा करता है, इससे सदा दु खी ही रहता है। तप का माहात्म्य देखो कि इससे बिना चाहे ही बड़प्पन या ऋद्धि आदि की प्राप्ति हो जाती है, अत तप से अधिक उत्कृष्ट और कोई कृत्य नही है।

ऐसे तप मे प्रवृत्ति करने-वाला जीव और क्या कार्य करता है, इसे दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं -

तप सर्वसिद्धि साधक है

(पृथ्वी छन्द)

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्,
गुणा· परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी,
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥११४॥

अर्थ — तप ही से यहॉ तत्काल अनादि से आत्मा के साथ लगे क्रोधादिक शत्रुओ को जीता जाता है। जिन गुणो को यह आत्मा अपने प्राण देकर भी प्राप्त करना चाहता है वे भी तप से प्रकट होते हैं। पुनश्च आगामी काल मे शीघ्र ही मोक्ष रूप पुरुषार्थ की सिद्धि स्वयमेव प्राप्त होती है अत ताप (कष्ट, क्लेश) का सहार करने-वाला ऐसा जो तप है उसमे कौन विवेकी पुरुष नही रमना चाहेगा ? अपितु अवश्य रमना चाहेगा।

भावार्थ — ससारी जीव तो जिस कार्य मे भविष्य मे अवगुण हो किन्तु तत्काल गुणो की प्राप्ति हो अथवा तत्काल अवगुण हो और भविष्य मे गुणो की प्राप्ति की सम्भावना हो उस कार्य मे ही अनुरागपूर्वक प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं। तप जो है वह तत्काल भी गुण करता है और कालान्तर (भविष्य, आगामीकाल) मे भी गुण करता है तो ऐसे तप मे कौन विवेकी पुरुष आदर नही करेगा ? अपितु अवश्यमेव करेगा। इस तप के तात्कालिक गुण तो इतने है - प्रत्यक्ष दु खदायक अनादिबद्ध क्रोधादिक का तप के कारण अभाव हो जाता है तथा अपने प्राण देकर भी जिन्हे पाना चाहे ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानादिक गुण, ऋद्धि, सन्मानादिक अतिशय स्वयमेव ही प्रकट हो जाते है। आगामी काल मे प्राप्त होने-वाला गुण ऐसा है कि तप के फल से शीघ्र ही पुरुष - आत्मा को मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। अत लोक-परलोक सर्वत्र गुण करने-वाले ऐसे तप मे प्रीति करनी योग्य है।

निरभिमान, क्षुधित, दीन के समान भिक्षा के लिए बहुत समय तक समुचित आहार को न पाकर भी परगृहों में भ्रमण करते रहे। तो यहाँ केवल अपने कार्य के वशीभूत होकर औरों को क्या परीषह नही सहन करना चाहिए अपितु स्वकार्य के लिए तो अवश्य ही सहना चाहिए।

भावार्थ – जिसे अपना कार्य सिद्ध करने की अभिलाषा होती है उसे थोड़ा-बहुत कष्ट भी सहना पड़े तो वह कष्ट भी सहता है परन्तु अपने कार्य की सिद्धि करता है। उसका उदाहरण देखो - भगवान् आदिनाथ ने सम्पूर्ण राज्य को छोड़कर तपश्चरण किया, वहाँ भी भोजन का अन्तराय होता रहा तो भी भोजन के लिए जैसे कोई भूखा दीन प्राणी पर-घर घूमता रहता है, वैसे वे भी पर-घर घूमते रहे। जो आदिनाथ सदृश महान् पुरुषों ने भी ऐसा किया तो औरो के लिए इसमे लज्जा की क्या बात है ? फिर औरो को कैसे सुगमतया सिद्धि हो सकती है ? अत· कार्यार्थी को थोड़ा-बहुत कष्ट सहकर भी मोक्ष का साधन अवश्य करने योग्य है।

दैव दुर्निवार है

(शिखरिणी छन्द)

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किङ्कर इव,
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः।।११९।।

अर्थ – जिनकी सेवा के लिए गर्भ से पूर्व ही इन्द्र किंकर के समान हाथ जोड़े हुए प्रस्तुत हुआ और जो स्वयं सृष्टि - कर्मभूमि के स्रष्टा हुए, जिनका पुत्र निधियो का स्वामी चक्रवर्ती हुआ, ऐसे पुरुष श्री आदिनाथ भगवान् भी छह माह तक क्षुधावान् होकर पृथ्वी पर भ्रमण करते रहे, सो यह बड़ा आश्चर्य है। इस संसार मे निकृष्ट विधि - कर्म का विलास अलघ्य है। कोई भी इसको मिटाने मे समर्थ नही है।

भावार्थ – कोई यह जाने कि मैं सुख की सामग्री जुटाकर दु ख के कारण दूर कर सुखी हो जाऊँगा, सो ससार मे ऐसा किसी का पुरुषार्थ नही है कि जो कर्म का उदय आने पर उसको दूर कर सके। श्री आदिनाथ भगवान् के इन्द्र समान तो सेवक थे, वे स्वय सर्व रचना - कर्मभूमि के कर्त्ता रूप पुरुषार्थ से संयुक्त थे, उनका पुत्र चक्रवर्ती था, ऐसी सामग्री होने पर भी अन्तरायकर्म के उदय से छह मास तक आहार के लिए भ्रमण करते रहे, तो औरो की क्या बात ! अत कर्मोदय से जो थोड़ा-बहुत कष्ट आवे तो उसको भी सहन कर इसी प्रकार का चिन्तन करना चाहिए कि संसार में तो कर्म ही बलवान् है और ससारावस्था का अभाव ही अपना परमहित कार्य है। इस प्रकार निश्चय कर उसी का साधन करना योग्य है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनादिक तीन आराधनाये हैं जो शास्त्रज्ञानादिक की प्रधानतापूर्वक प्रवृत्ति करने पर अभीष्ट प्रयोजन की साधक होती हैं, अन्यथा नही होती। अब 'ज्ञानाराधना' बताने का अनुक्रम करते हुए 'प्राक् .....' इत्यादि सूत्र कहते हैं -

संयमी पहले दीपक, फिर सूर्यवत् दीप्त होता है

(अनुष्टुप् छन्द)

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
प्रश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम्।।१२०।।

अर्थ — संयमी पुरुष आरम्भ में तो दीपक की भाँति प्रकाशप्रधान होता है फिर ताप और प्रकाश दोनो से संयुक्त होकर सूर्य के समान देदीप्यमान होत है।

भावार्थ — मोक्ष का साधक प्रथम अवस्था मे तो दीपकवत् होता है। जैसे दीपक तैलादि सामग्री के बल से घट-पटादिक पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही शास्त्रादिक के बल से (मोक्ष का साधक जीव) जीवादि पदार्थों को जानने-वाला होता है। अनन्तर उसे (मोक्षसाधक) सूर्य के समान बनना ही योग्य है। जैसे सूर्य स्वभाव से ही अनेक पदार्थों का प्रकाशक है और प्रताप को धारण करने-वाला है, वैसे ही मोक्षसाधक जीव स्वभाव से ही पदार्थों को विशेष जानने-वाला होता है और फिर तपश्चरणादिक को धारण करने-वाला होता है, ऐसा क्रम जानना। ज्ञानाराधना का धारक जीव ऐसा होकर इस कार्य को करता है, सो कहते हैं -

ज्ञानाराधक दीपक के समान होता है

(अनुष्टुप् छन्द)

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन् कर्मकज्जलम्।।१२१।।

अर्थ — यह ज्ञानवान् जीव दीपक के समान होकर, ज्ञान और चारित्र से देदीप्यमान होते हुए, कर्म रूपी काजल का वमन कर स्व-पर को प्रकाशित करता है।

भावार्थ — ज्ञानाराधना का आराधक दीपक तुल्य है। जैसे दीपक दीप्ति सहित भास्वर होता है और काजल का वमन करता है। ऐसा होते हुए स्वयं को और पर घट-पटादिक को प्रकाशित करता है वैसे ही ज्ञानी जीव भी ज्ञान और चारित्र से संयुक्त होकर देदीप्यमान होता है और कर्मों की निर्जरा करता है। इतना हो जाने पर स्वयं आत्मा को और पर-शरीरादिक को यथावत् जानने लगता है।

'पूर्वोक्त ज्ञानाराधना का आराधक जीव शास्त्रज्ञान से उत्पन्न विवेकपूर्ण क्रम से अशुभ परिणामो को छोड़कर शुद्ध परिणामो का आश्रय लेकर मुक्त होता है,' यह दिखाने-वाला सूत्र कहते हैं -

शुद्ध दशा मे आने का क्रम

(अनुष्टुप् छन्द)

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः।।१२२।।

अर्थ — यह जीव आगमज्ञान से अशुभ से छूट कर शुभ को प्राप्त होता हुआ शुद्ध होता है। यहाँ दृष्टान्त है कि जिस सूर्य को सध्यावस्था प्राप्त नही हुई है उसके अन्धकार का समुद्गम (प्रकटपना) नही होता है।

भावार्थ — जैसे संध्या सम्बन्धी लालिमा को न प्राप्त होने-वाले सूर्य के अन्धकार का प्रादुर्भाव नही होता है, वैसे ही अशुभ रागरहित जो आत्मा है वह क्रम से शुभराग रूप होकर शुद्ध केवलदशा को प्राप्त होता है, उसके अज्ञानादिक की उत्पत्ति नही होती।

यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञान-आराधना रूप परिणमित जीव के तप-शास्त्रादि मे शुभ रूप अनुराग से सरागीपना होता है, अत· मुक्तपना कैसे हो सकता है ? इस आशंका का उत्तर देते हैं -

शुभ राग भी कल्याणोदय मे कारण

(अनुष्टुप् छन्द)

विधूततमसो रागस्तप श्रुतनिबन्धन·।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय स·।।१२३।।

अर्थ — अज्ञानान्धकार को दूर करने-वाले जीव के तप-शास्त्रादिक सम्बन्धी रागभाव भी कल्याण के उदय के लिए होता है। जैसे सूर्य की प्रभात सम्बन्धी लालिमा उदय के लिए ही है, वैसे ही इसे भी जानना।

भावार्थ — सूर्य के अस्त होते समय सध्याकाल मे जैसी लालिमा होती है वैसी ही प्रभातकाल की संध्या मे भी लालिमा होती है। परन्तु प्रभात की लालिमा मे और सध्या की लालिमा मे इतना भेद है कि जो प्रभातकाल में रात्रि सम्बन्धी अन्धकार का नाश कर सधिकाल मे लालिमा हुई है वह आगामी सूर्य के शुद्धोदय मे कारण है। वैसे ही जीव के जैसा विषयादिक मे राग होता है वैसा ही तप-शास्त्रादि मे राग होता है परन्तु तपशास्त्रादि मे मिथ्यात्व सम्बन्धी अज्ञान का नाश कर संधि (काल) मे जो राग हुआ है, वह जीव की आगामी शुद्ध केवल दशारूप उदय मे कारण है।

आगे इससे विपरीत जो राग है उसमें दोषों को दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं -

अशुभ राग कुगति का कारण

(अनुष्टुप् छन्द)

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति।।१२४।।

अर्थ — जीव सूर्य के समान फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अन्धकार को आगे करके रागभाव को प्राप्त होता हुआ पातालतल को चला जाता है।

भावार्थ — जैसे अस्त होता हुआ सूर्य अपने फैले हुए प्रकाश को तो छोड़ता है और आगामी जो अन्धकार होने-वाला है सो सध्याकाल में लालिमा को प्राप्त हुआ है सो ज्योतिष्क मत की अपेक्षा अथवा दिखाई देने की अपेक्षा पाताल को प्राप्त होता है। वैसे ही भ्रष्ट अवस्था को प्राप्त होने-वाला आत्मा अपने फैल रहे ज्ञानभाव को तो छोड़ता है और आगामी जो अज्ञान होनहार बना है उस समय मे हिंसादिक पापरूप राग भाव को प्राप्त होता है, ऐसा आत्मा पाताल को प्राप्त करता है। अर्थात् नरकादिक या नीच दशारूप निगोदादि पर्याय को प्राप्त होता है। इस प्रकार यद्यपि अशुभ और शुभ दोनो राग भाव हैं परन्तु नीचे की दशा मे शुभराग तो कथचित् आगामी शुद्धता मे कारण भी है अत थोड़ा हेय है जबकि अशुभ राग तो आगामी कुगति का कारण है, अत सर्वथा अत्यन्त हेय है। अतः इसका तो अवश्य त्याग करना चाहिए।

'चतुर्विध आराधना मे निष्कपट मन से प्रवृत्ति करने-वाले मोक्षाभिलाषी जीव को मोक्ष की प्राप्ति निर्विघ्नतया होती है।' इस बात को दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं -

चतुर्विध आराधना की पूर्णता का फल

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं,
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः।
पन्थाश्च प्रगुणं शमाम्बुबहुलश्छाया दया भावना,
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः।।१२५।।

अर्थ — ज्ञान तो जहाँ पुरस्सर हो अर्थात् मार्गदर्शक हो, लज्जा साथ चलने वाली हो, तप का सम्बल (बटसारी) हो, चारित्र की पालकी हो, मार्ग में रुकने के स्थान स्वर्ग हो, गुण रक्षक हो और मार्ग सीधा हो यानी जिसमे उपशम रूप जल की बहुलता हो, दयारूप छाया हो और भावना रूपी गमन हो, जहाँ इतना समाज एकत्र हो उस मुनि को उपद्रव बिना अभीष्ट स्थान (मोक्ष) की प्राप्ति अवश्य होती है।

भावार्थ — जैसे कोई पुरुष किसी नगर को चले, उसे यदि मार्गदर्शक आदि सामग्री सुलभ हो जाये तो बिना किसी बाधा के वह नगर को पहुँच जाए। इसी प्रकार यदि कोई भव्य मोक्ष की अभिलाषा करे और उसे ज्ञानादिक सामग्री मिल जाए तो वह भी बिना किसी उपद्रव के मोक्ष को प्राप्त कर ले (नगरगमन और मोक्षगमन के रूपक की समानता इस प्रकार है-) जैसे मार्गदर्शक मार्ग बताता है वैसे मोक्षमार्ग मे ज्ञान तो हेयोपादेय तत्त्वो का निश्चय कराता है। जैसे मार्ग मे साथ चलने वाली स्त्री हो तो मार्ग मे सुख से गमन होता है, उसी प्रकार धर्म सम्बन्धी लज्जा साथ हो तो मोक्षमार्ग मे सुखपूर्वक प्रवृत्ति होती है। पुनः जैसे मार्गव्यय (खर्ची, वटसारी) पास मे हो तो शिथिलता नही आती वैसे ही तपस्या के साधन से शिथिलता नही आती। यदि चढने के लिए पालकी हो तो चलने मे खेद नही होता वैसे निष्कषाय रूप चारित्र भाव से मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति करते हुए खेद नही होता है। यदि मार्ग में ठहरने के स्थान उत्तम हो तो वहाँ विश्राम होता है वैसे ही मोक्षमार्ग में ठहरने के स्थान स्वर्ग है, वहाँ विश्राम होता है। यदि रखवाले साथी साथ हो तो मार्ग मे कोई लूट नही सकता, उसी प्रकार क्षमादिक रखवाले गुण हो तो क्रोधादिक लुटेरे लूट नही सकते। यदि मार्ग सीधा-सरल हो नो सुखपूर्वक गमन होता है वैसे ही मोक्षमार्ग कपटरहित मरल है अत वहाँ सुख से प्रवृत्ति होती है। मार्ग मे जल घना हो तो प्यास का दु ख न हो वैसे ही मोक्षमार्ग मे उपशम भाव हैं तो उनसे तृष्णा का दु ख नही होता है। यदि मार्ग मे छाया हो तो धूप नही लगे उसी प्रकार मोक्षमार्ग मे स्वदया और परदया है - इनसे सन्ताप नही होता है। पुन जैसे गमन करे तो नगर को पहुँचे, वैसे यहाँ (मोक्षमार्ग मे) शुद्ध भावना भावे तो मोक्ष को प्राप्त करे।

इतनी सामग्री मिलने पर जैसे पथिक अभीष्ट नगर को पहुँच जाता है उसी प्रकार मोक्षमार्गी अभीष्ट मोक्षपद को प्राप्त करता है।

मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति करने मे क्या बाधा है ? ऐसी आशका होने पर उन बाधाओ का निरूपण पॉच श्लोको मे करते हैं -

मोक्षप्राप्ति मे स्त्री-अनुराग बाधक है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटं,
यासामर्धविलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्वत·।
तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः,
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद् गोचरं मास्म गाः।।१२६।।

अर्थ — सर्पों को जो दृष्टिविष जाति का कहा जाता है सो यह कथन मिथ्या है। हमने तो इन स्त्रियों में दृष्टिविषपना प्रकट देखा है। कैसी हैं स्त्रियाँ ? जिनके कटाक्ष रूप अर्ध-अवलोकन से भी

लोक सर्वांगपने दाह को प्राप्त होता है। और फिर उनके त्याग से उनके प्रतिकूल बने तुझ पर तो क्रोधित हुईं वे स्त्रियाँ तुझको भ्रष्ट करने के लिए बहुत घूम रही है। सो यह विष केवल स्त्री रूप ही है, अतः तू इनके गोचर मत हो।

भावार्थ — लोक मे किसी जाति के सर्प के बारे में ऐसा सुना जाता है कि उसको देखने मात्र से विष चढ़ जाता है। सो यह कथन तो अलंकार रूप मिथ्या है। स्त्रियो के कटाक्ष से तत्काल विष समान आतापकारी कामविकार उत्पन्न होता है इसलिए स्त्रियो के दृष्टिविषपना कहा गया है। यहाँ मुनि को यह शिक्षा दी है कि और तो सब ही स्त्रियों के दास हैं और तूने उनका त्याग किया है सो तुझे भ्रष्ट करने में वे स्त्रियाँ कारण हो रही हैं अतः तू उनके विषयगोचर मत हो। मोक्षमार्ग में स्त्रियो के वशीभूत होना ही बड़ा उपद्रव है।

स्त्री अनुकूल हो तो भी प्राणहारक है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगाः दंष्ट्रैव काले क्वचित्,
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः।
हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा-
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च।।१२७।।

अर्थ — सर्प तो क्रुद्ध होने पर किसी समय डसकर ही प्राणो का हरण करने-वाले होते हैं और तत्काल विष को दूर करने - वाली उनकी औषधियॉ भी बहुत है परन्तु ये जो स्त्रीरूपी सर्प हैं वे तो क्रुद्ध होने पर भी और प्रसन्न रहने पर भी परलोक मे और इस लोक मे बारम्बार उन योगीश्वरो को - देखी हुई भी अथवा देखकर के भी डसती हैं, उनका घात करती हैं। कैसे हैं स्त्री रूप सर्प ? औषधि रहित है विष जिनका, ऐसे हैं।

भावार्थ — लोक मे सर्प को अत्यन्त अनिष्टकारी जानकर सब उनसे डरते हैं और स्त्रियो को अति इष्ट जानकर इनका विश्वास करते हैं अत यहॉ स्त्रियो से राग छुड़ाने के लिए सर्प से भी अधिक (अनिष्टपना) स्त्रियो के दिखाया है। सर्प तो क्रुद्ध होने पर ही उसे डसे, प्राण लेवे परन्तु स्त्री तो क्रुद्ध होने पर तो किसी अन्य उपाय से और प्रसन्न होने पर आकुलता बढाकर जीव का घात करती है। सर्प तो किसी एक समय मे मारता है जबकि स्त्री इहलोक और परलोक मे बारम्बार मरण करावे। सर्प तो डस करके प्राणो का हरण करता है जबकि स्त्री देखी हुई ही अथवा स्वय देख करके भी जीव का घात करती है। सर्प के विष को दूर करने के लिए तो अनेक औषधियॉ हैं परन्तु स्त्रियो के कारण उत्पन्न हुए काम-सन्ताप की कोई औषधि भी नही है। ऐसे स्त्री रूपी सर्प मोक्षमार्गियो को भी भ्रष्ट कर देते हैं, अतः इनका विश्वास नही करना चाहिए।

यदि स्त्री ही अभीष्ट है तो मुक्ति रूपी स्त्री से अनुराग कर -

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसी,
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनी गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुटं,
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः।।१२८।।

अर्थ — यह मुक्ति लक्ष्मी रूपी स्त्री उत्तम नायिका है सो सामान्यजन के लिए वर्जित है, जिस किसी को इसकी प्राप्ति नही हो सकती है। यह सम्पूर्ण जगत् को प्रिय है। इसका स्वरूप जानने पर इसको सब कोई चाहते हैं, ऐसी सर्वजनप्रिय है। यह गुणो मे स्नेहवती है। जिसमे गुण होते हैं उसी को इसकी प्राप्ति होती है। उसे प्राप्त करने की जो तेरे इच्छा उत्पन्न हुई है तो तू उस मोक्षलक्ष्मी को ही रत्नत्रयादि से आभूषित-अलकृत कर। अन्य लौकिक स्त्रियो की वार्ता करना भी छोड़, उस मोक्षलक्ष्मी में ही अपने अनुराग का विस्तार कर। ऐसा करने पर ही तुझे मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होगी। क्योकि स्त्रियॉ प्रायः ईर्ष्यालु हुआ करती हैं।

भावार्थ — यहॉ अलकार रूप से मोक्षलक्ष्मी को स्त्री कहा गया है सो जैसे कोई पुरुष किसी स्त्री को अपने वशीभूत करना चाहे तो उसे अन्य स्त्रियो की वार्ता भी नही करनी चाहिए। उसी मे अनुराग की वृद्धि करनी चाहिए। आभूषणादिक से उसको प्रसन्न करना चाहिए, वैसे ही तू यदि मोक्षलक्ष्मी को चाहता है तो लौकिक स्त्रियो की बात भी मत कर। उसी मे प्रीति बढा। रत्नत्रयादिक से उसका साधन कर, यही उपाय है। स्त्रियो के परस्पर ईर्ष्या पाई जाती है अत विरोध लिए जो दो स्त्रियॉ हो तो उनमे एक ही का साधन बन सकता है, वैसे ही मोक्षलक्ष्मी के और लौकिक स्त्रियो के परस्पर ईर्ष्या और विपरीतता है। अत परस्पर विरोधी मोक्षलक्ष्मी और लौकिक स्त्री मे एक ही का साधन बन सकेगा। इसलिये लौकिक स्त्री को छोड़कर मुक्तिलक्ष्मी का ही साधन करना चाहिए।

स्त्री सरसी के समान होती है -

(हरिणी छन्द)

वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरै.,
वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेऽपि पिपासवो,
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गता.।।१२९।।

अर्थ — स्त्री सरसी (छोटा तालाब, पुष्करिणी) के समान है। वह हास्य रूपी स्वच्छतायुक्त और वक्रोक्ति आदि सुखकारी तरंग गर्भित वचन रूपी जल से युक्त है। अपने मुखरूपी कमल से वह बाह्य में अत्यन्त रमणीय है। सो इन स्त्री रूपी सरसियों मे निर्बुद्धि जीव तट ही पर तृष्णावन्त बने विषयरूपी विषम गोह द्वारा ग्रसे जाने पर वापस नही निकल पाते।

भावार्थ — जैसे कोई सरसी निर्मल तरंगो वाले जल और कमलो से युक्त होने पर बाह्य मे रमने योग्य प्रतीत होती है परन्तु उसमें गोह नामक जलचर जीव रहते हैं। सो कोई अविवेकी प्यास लगने पर वहॉ जाकर तट पर ही खड़ा रहा। यह तो अपनी प्यास बुझाने के लिए गया था और वहॉ इसको गोह नामक जलचर जीव ने अपने तन्तुओ से खीच कर निगल लिया। यह वहॉ से निकला नही, वही मरण को प्राप्त हो गया। उसी प्रकार की ये स्त्रियाँ हैं। इनमे हास्य और वचनचातुर्य है जिससे इनके मुख की शोभा है इसलिए ये बाह्य मे रमने योग्य प्रतीत होती हैं, फिर इनमे कामसेवन रूप विषय का कारण भी विद्यमान है। कोई अज्ञानी वेदजनित तृषातुर हुआ वहाँ (स्त्री के निकट) जाकर दूर ही से अवलोकन करने लगा, सो यह तो अपनी चाह मिटाने हेतु गया परन्तु वहॉ काम ने अपनी विषय रूप सामग्रियो से इसे विह्वल कर भ्रष्ट किया सो अब यह सावधान होता नही। स्थावरादि पर्याय को ही प्राप्त होता है अत· इन स्त्रियो का विश्वास नही करना चाहिए।

स्त्री आकुलता का कारण है -

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं,
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः।
हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मित,
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधादिपस्याकुलाः।।१३०।।

अर्थ — पापी क्रोधी इन्द्रिय रूपी शिकारियो ने शिकार-स्थान के चारो ओर राग रूपी अग्नि प्रज्वलित कर दी है जिससे सब ओर से भयभीत और क्षुब्ध होकर मनुष्य रूपी हरिण शरण को चाहते हुए, आखेटक कामदेव के स्त्रीरूप कपट निर्मित घातस्थानक को प्राप्त होते है।

भावार्थ — जैसे किसी प्रधान शिकारी के सेवक शिकार कराने के लिए जिस स्थान पर हरिण होते हैं वहॉ चारो ओर अग्नि लगा देते हैं और शिकार करने का एक स्थान बनाते हैं, अग्नि के भय से भाग-भाग कर 'हम यहाँ बचेगे' ऐसा सोचकर हरिण उसी स्थान पर आ जाते हैं, सो वहॉ प्रधान आखेटक शस्त्रादिक से उनको मार देता है। उसी प्रकार प्रधान विकार रूप काम है, उसके इन्द्रिय रूपी सेवकों ने जीव को भ्रष्ट करने के लिए सर्व वर्णादिक विषयों में रागादि उत्पन्न किया है, लोक मे एक स्त्रीरूपी पदार्थ है। रागभावजनित आकुलता से पीड़ित होकर यह जीव उस स्त्रीरूप स्थान

को यह सोचकर प्राप्त होता है कि यहाँ हम निराकुल रहेंगे। सो यहाँ प्रधान कामविकार उन जीवो को अपनी कुचेष्टा रूप बाणों से भ्रष्ट कर देता है। तब ये जीव परम आकुलता को प्राप्त होते हैं। अत. स्त्रियो को भला स्थान जानकर उनमे विश्वास करना उचित नही है।

इन बाह्य उपद्रवो के कारणों मे प्रवृत्ति का निषेध कर अब अन्तरंग उपद्रव के कारणो में प्रवृत्ति का निषेध करने-वाला सूत्र कहते हैं -

तपस्वी होकर भी आसक्त बने रहने-वाले को सम्बोधन

(पृथ्वी छन्द)

अपत्रप ! तपोऽग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं,
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि।
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो,
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तदिह ताः स्फुटं बिभ्यति।।१३१।।

अर्थ — हे निर्लज्ज ! तप रूपी अग्नि से तेरा यह शरीर अधजले मुर्दे के समान भय और जुगुप्सा का स्थान हो रहा है। उसे तू क्यो नही देखता है ? व्यर्थ ही आसक्ति को क्यो प्राप्त हो रहा है ? हे भ्रष्ट ! तू तो आतुर हुआ स्त्रियों को नही डराता है, उनका संग करना चाहता है परन्तु वे स्त्रियॉ प्रकृति से चचल और कायर हैं, वे ही तुझसे प्रकट रूप से डरती हैं, तेरी भयानक मूर्ति देखकर भागती हैं।

भावार्थ — कोई दीक्षा धारण कर भी कामविकार से स्त्रियो मे अनुरागी होता है, उसे यहॉ शिक्षा दी गई है। तेरा शरीर तो तपस्या के कारण अत्यन्त भयकारी और घिनावना हो रहा है जैसे कोई अधजला मुर्दा हो। फिर भी तू स्त्रियो के संग की चाह करता है। उनका तो यह स्वभाव है कि वे जिसके शरीर को सजा-सॅवरा नही देखती, उसकी हॅसी उड़ाती हैं और उससे दूर भागती हैं। अत हे निर्लज्ज ! तेरा उनका साथ होना नही, तू व्यर्थ ही अपना आपा क्यो बिगाड़ रहा है ? इस पद को पाकर (दीक्षा धारण कर) तो तुझे अपना ही भला करना योग्य है।

जिसमे तू रति करता है वह स्थान (स्त्री) कैसा है ? यह दर्शाने के लिए उत्तुङ्गसङ्ग. आदि तीन श्लोक कहते हैं -

स्त्रियो के अन्तरग दोष[१]

(वसन्ततिलका छन्द)

उत्तुङ्गसङ्गतकुचाचलदुर्गदूर-
मारादूबलित्रयसरिद्विषमावतारम्।

रोमावलीकुसृतिमार्गमनङ्गमूढा:,
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्ना:।।१३२।।

अर्थ — कामविकार से मूर्ख बने ऐसे कौन जीव हैं जो स्त्रियो के कटिछिद्र - योनिस्थान को प्राप्तकर खेद - खिन्न नही होते, अपितु सब ही तत्काल या शीघ्र ही खेद को प्राप्त करते है। कैसा है वह स्थान ? उन्नत और परस्पर सटे हुए कुच युगलपर्वत रूप गढ से दुष्प्राप्य हैं। त्रिवली रूप नदी के कारण जहाँ पार उतरना कठिन है, और रोमावली के कारण जहाँ का मार्ग कटकाकीर्ण है, (ऐसे स्थान को प्राप्त करने मे खेद अवश्यम्भावी है।)

भावार्थ — जैसे जिस स्थान के मार्ग में ऊँचे मिले हुए-सटे हुए पर्वत हो और कठिनाई से पार होने वाली नदी हो, वृक्षो की सघनता के कारण दुर्गमता हो, उस स्थान पर पहुँचने मे खेद तो होगा ही। वैसे ही योनिस्थान मे रमण करने से पूर्व पहले तो उन्नत कुचयुगल हैं। उनसे खेदपूर्वक छूटना हो तो त्रिवली है फिर रोम पक्तियो से दुर्गमता आ गई है; ऐसे स्थान को प्राप्त होने मे खेद का होना अवश्यम्भावी है। जो इस प्रत्यक्ष खेद को भी सुख मानता है - सो जिस प्रकार दु खी व्यक्ति अपना सिर फोड़ने मे भी सुख मानता है - उसी प्रकार काम से पीड़ित हुआ खेद - खिन्न होने पर भी सुख की कल्पना करता है। अत कामविकार को मिटाना, नष्ट करना ही योग्य है।

स्त्रियो के अन्तरग दोष[२]

(वसन्ततिलका छन्द)

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य,
नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र-
माहुर्बुधा जघनरन्ध्रमद. सुदत्या:।।१३३।।

अर्थ — ज्ञानीजन स्त्री के जघनरन्ध्र-योनि रूप छिद्र के सम्बन्ध मे ऐसा कहते है। कैसा है यह ? विषयी पुरुषो की विष्टा का घर है। अथवा कामदेव के शस्त्र का घाव है। अथवा दुर्गम मोक्षरूप पर्वत को आच्छादित करने-वाला (जाने से रोकने वाला) गड्ढा है अथवा कामदेव रूपी महासर्प का बिल है।

भावार्थ — स्त्रियो का योनिछिद्र जैसे विष्टा फेकने का घर हो वैसे ही कामी पुरुषो के वीर्य डालने का स्थान है। अथवा जैसे शस्त्र का घाव होता है वैसे ही कामदेव के शस्त्र लिंग का घाव है। अथवा जैसे पर्वत के आगे छिपा हुआ गड्ढा वहाँ न पहुँचने का कारण है वैसे ही यह मोक्ष को रोकने-वाला है, अज्ञानीजन मोक्ष को बुरा जानते हैं अत· यह वहाँ न जाने का कारण है अथवा जैसे बिल मे सर्प रहता है और जो वहाँ जाता है उसको सर्प डस लेता है, इसी प्रकार इसमे कामरूपी सर्प

का वास है। जो इसमे रति करता है उसको काम मोहित कर लेता है। इस प्रकार अनेक उपमाओ से यह योनिछिद्र अनिष्ट है। इसलिए इसमे राग नही करना चाहिए।

स्त्रियो के अन्तरग दोष[3]
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे,
व्याकृष्टा विषयै· पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा।
प्रोचे प्रीतिकरी जनस्य जननी प्राग्जन्मभूमि च या,
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम्।।१३४।।

अर्थ — हा ! हा ! (खेद है) धर्म से विमुख हुए ऐसे कई जीव तपस्या के स्थान वन को प्राप्त करके भी विषयो से प्रेरित होकर जैसे हाथी कपट से बनाये हुए गड्ढे मे गिर पड़ता है, उसी प्रकार स्त्री के कटिछिद्र (योनि) मे जा गिरते हैं। सो मैं ऐसा मानता हूँ कि - यह योनि है सो इस मनुष्य की पहले जन्मभूमि है अत माता है। इससे प्रीति करने की जो कुकवि कहते हैं तो उन दुष्टात्माओ के दुष्ट वचनो से यह जगत् ठगाया गया है।

भावार्थ — जैसे हाथी वन मे स्वाधीन रहता है, उसे पकड़ने के लिए कोई कपट का गड्ढा बनाते हैं, विषयसेवन के लोभ से वह हाथी उस गड्ढे मे गिरकर अनेक कष्ट सहता है, वैसे ही मुनि वन मे स्वाधीन विचरते हैं। इनको भ्रष्ट करने का कारण स्त्री का योनिस्थान है। विषय सेवन के लोभ से उस योनि मे रमते हुए वे इस लोक और परलोक के घने कष्ट सहते है। यहॉ आचार्य कहते हैं - जीव के कामविकार तो है ही परन्तु कोई शिक्षा देने-वाला मिले तो कामविकार घटे। सो खोटे कवीश्वर अनेक युक्तियो से स्त्रियो के अगो को रमणीक दिखाकर विकार बढाते हैं, अत उनके वचनो से ठगाया हुआ जीव सावधान नही हो पाता। कुकवियो की धृष्टता तो देखो जिस योनि स्थान में अपना जन्म हुआ है उसी को रमने का स्थान बताते हैं। अत कुकवियो के बहकाए, स्त्री की योनि में राग मत करो। रागी होने पर महान् कष्ट पाओगे। ऐसी यहॉ शिक्षा दी है।

विष मे जो अमृतबुद्धि की प्रवृत्ति कराता है, वह ठग है। यहॉ तो यह स्त्री पुरुषो के भी सन्तापादिक दु.ख का ही कारण है। अत महान् विष है। सो कहते हैं -

स्त्री विष से भी अधिक प्राणघातक है
(अनुष्टुप् छन्द)

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दन्दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम्।।१३५।।

अर्थ — रुद्र महादेव-शिव के कण्ठ में स्थित कालकूट विष भी उनका कुछ न कर सका परन्तु ऐसे रुद्र भी स्त्रियो के द्वारा सन्तापित किये गये अत· स्त्री अन्य विषो से भी अधिक विषम विष है।

भावार्थ — लोक में कालकूट विष के समान अन्य कोई निरुपाय अनिष्ट नही है, ऐसा कहा जाता है परन्तु स्त्री तो इससे भी विषम विष है, अत्यन्त निरुपाय अनिष्ट है। देखो - महादेव कालकूट विष को अपने कण्ठ मे रखे रहे परन्तु उसने उनका कुछ भी अनिष्ट नही किया। परन्तु स्त्री ने तो उनको भी कामपीड़ित कर सन्ताप उत्पन्न किया। इसलिए कालकूट से भी स्त्री का अधिक विषमपना जानकर, जो विष को अमृत बताते हैं, ऐसी ठगाई से भी जो स्त्री मे अनुराग कराते हैं, उन्हे महाठग जानना। उनके वचनों से स्त्रियों में अनुराग नही करना।

स्त्रियों के शरीर मे चन्द्रमादिक का स्वभाव स्थापित करने से प्राणियो के आसक्ति होती है, सो मिथ्या है, ऐसा कहते हैं -

स्त्री के अगो मे प्रीति करना अयोग्य है

(मालिनी छन्द)

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे,
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।
तनु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी,
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेक·।।१३६।।

अर्थ — हे प्राणी! सब दोषो का पात्र ऐसा जो स्त्री का शरीर है, उसमे चन्द्रमा आदि पदार्थों के समान स्वभाव मानने से जो तेरे प्रीति देखी जाती है तो ये चन्द्रमा आदि पदार्थ तो शुचि हैं, शुभ हैं। इनमे ही प्रीति करनी अच्छी है। परन्तु कामरूपी मदिरा के मर से जो अन्धा हो चुका है, उसमे कहाँ विवेक है ?

भावार्थ — कुकवि स्त्रियों के अंगो मे चन्द्रमा, कमल आदि पदार्थों की उपमाएँ देकर अनुराग कराते हैं। तू कामरूपी मदिरा से अन्धा हुआ है, तुझे कुछ दिखता नही। हाड़-मांस के बने अंगो मे चन्द्रमादिक का समानपना कैसे बने ? और जो तेरी बुद्धि मे चन्द्रमादिक की उपमा बनती है तो जिनकी उपमा दी गई है वे तो इससे कुछ भले ही होगे। स्त्री के अंग तो अपवित्र हैं और बुरे हैं। चन्द्रमादिक पवित्र हैं और अच्छे हैं अत: चन्द्रमादिक मे ही अनुराग क्यो नही करता ? परन्तु जैसे कीट विष्टा में ही रति करता है वैसे ही तू कामी स्त्रियो के अंगो मे ही रति मानता है। कामान्ध को भले-बुरे का विवेक होता नही अत. कामान्धपना मिटाकर विवेकी होना योग्य है।

स्त्री के शरीर मे जो प्रीति है वह मनपूर्वक है। मन नपुंसक है। ज्ञानी पुरुष का उस नपुसक मन द्वारा जीतना कैसे बन सकता है ? सो कहते हैं -

ज्ञानी पुरुष नपुसक मन द्वारा नही जीते जा सकते

(पृथ्वी छन्द)

प्रियामनुभवन् स्वयं भवति कातरं केवलं,
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुट ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति नशब्दतश्चार्थत.,
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते।।१३७।।

अर्थ — स्त्री का भोग करते समय स्वयं मन तो केवल कायर ही रहता है, उसको कुछ भी नही भोग सकता। अन्य जो विषयी स्पर्शनादि इन्द्रियॉ हैं उनको उस स्त्री को भोगते हुए प्रगट हर्ष पैदा करता है। इसलिए यह मन है सो केवल शब्द से ही नपुसक नही है, अर्थ से भी नपुसक ही है। और जो भली बुद्धि का धनी ज्ञानी है, वह दोनो प्रकार से - शब्द से और अर्थ से भी पुरुषलिंगी है। सो इस नपुसक मन द्वारा कैसे जीता जा सकता है ? अपितु नही जीता जा सकता।

भावार्थ — कोई कहे कि मन विकारी हो जाए तब विवेकी क्या करे ? उसे युक्ति से समझाते है। 'मन' शब्द व्याकरण मे नपुसकलिगी कहा गया है। सो यह मन शब्द ही से नपुसकलिगी नही है अपितु अर्थ से भी नपुसक ही है। जैसे नपुसक स्त्री को भोगना चाहे परन्तु स्वय भोग सके नही, अन्य पुरुष भोगे तो उनकी क्रीड़ा ही देख आप हर्ष मनावे, वैसे ही यह मन स्त्री को भोगना तो चाहे परन्तु स्वय भोग कर सके नही तो स्पर्शनादि इन्द्रिय भोग करे, उनकी क्रीड़ा देखकर ही आप हर्षित होवे। इस प्रकार मन तो शब्द से और अर्थ से दोनो प्रकार से नपुसक है। और जो उत्तम बुद्धिवाला है सो 'सुधी' है। यह शब्द व्याकरण मे पुरुषलिगी है अत शब्द से भी पुरुष है और श्रेष्ठ बुद्धि जिसकी होती है ऐसा इसका अर्थ है। स्त्री का स्वामी पुरुष ही होता है, स्त्री की धनी स्त्री होती नही। अत अर्थ से भी पुरुष है। सुधी पुरुष पुरुषार्थ को सँभाले तो नपुसक मन से हार नही सकता। नपुसक मन इस सुधी पुरुष को कैसे जीते ? अत मन को बलवान् मानकर स्वय को पुरुषार्थ नही छोड़ना चाहिए। पुरुषार्थपूर्वक मनोविकार का अभाव करना ही उचित है।

पूर्वोक्त कारण से मन को जीतकर विवेकी पुरुषो को उत्तम तप करना ही योग्य है। तप करने-वाले जीव के परमपूज्यपने की सिद्धि होती है, ऐसा कहते है -

तप, साम्राज्य से भी महान् और पूज्य है

(स्रग्धरा छन्द)

राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतप. पूज्यमत्रापि यस्मात्,
त्यक्त्वा राज्य तपस्यन्न लघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम्।
राज्यात्तस्मात् प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्यं धीमानुदग्र,
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः।।१३८।।

अर्थ — सुजनता अर्थात् नीतियुक्त राज्य और शास्त्रज्ञान सहित तप - ये दोनो पूज्य है। इनमे भी जो राज्य छोड़कर तप करता है वह तो लघु नही होता है, उत्तमपने को प्राप्त करता है परन्तु जो तप को छोड़कर राज्य करता है वह अत्यन्त लघुता को प्राप्त करता है, नीचपने को प्राप्त होता है। अत तप राज्य से भी विशेष पूज्य है। ऐसा मन में विचार कर पाप से भयभीत बुद्धिमान् आर्य पुरुष सर्व प्रकार के सासारिक भय को दूर करने-वाले तप को तपते हैं अर्थात् तपश्चरण करते हैं।

भावार्थ — लोक मे दो की प्रधानता है - एक तो नीतियुक्त राज्य और दूसरा ज्ञान सहित तप। जो राज्य छोड़कर तप करते हैं वे तो वन्द्य होते ही हैं परन्तु जो तप छोड़कर राज्य करते है वे अतिनिन्द्य हैं। यह निश्चित समझो कि राज्य से भी तप विशेष प्रधान है, यह प्रत्यक्ष देखा भी जाता है, राजा तपस्वी की वन्दना करता है और तपस्वी राजा की वन्दना नही करता। इस प्रकार विचार कर जो ज्ञानीजन ससार मे भयभीत है वे राज्य को पापरूप ससार का कारण जानकर और तप को ससार के दु खो को दूर करने-वाला जानकर तपश्चरण ही अगीकार करते हैं।

तपश्चरण के नाश से लघुता प्राप्त होती है। इस आशय को दृष्टान्त के माध्यम से दर्शाते हुए सूत्र कहते हैं -

तप छोड़ने-वाले की दशा

(अनुष्टुप् छन्द)

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात् पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षति ।।१३९।।

अर्थ — पहले जब सुगन्धादिक गुण होते है तब तो फूल भी देवो द्वारा मस्तक पर धारण किये जाते हैं। बाद मे गुणो के नष्ट हो जाने पर उन फूलो को चरण भी स्पर्श नही करते। सो न्याय ही है। गुण का नाश कौन-सी लघुता नही करते अपितु सर्व ही कर देता है अर्थात् गुणो का नाश होने पर स्वयमेव लघुत्व प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ — लोक मे गुणो की ही महिमा है, सो देखो। जिस फूल को सुगन्धादिक गुण होने पर महन्त पुरुष भी अपने मस्तक पर रखते थे उसी फूल को सुगन्धादिक गुण चले जाने पर कोई पॉव की ठोकर भी नही देता। अतः यहॉ भी यही अर्थ समझना। ज्ञान सहित तप होने पर जिसकी देवता भी पूजा करते थे, उसके भ्रष्ट हो जाने पर कोई भी उसका सगम नही करता। गुणो का नाश लघुता ही पैदा करता है। अत गुणो की रक्षा करना ही योग्य है। यहॉ ऐसा अभिप्राय समझना कि जो कुल या पदस्थ या भेषादिक के सम्बन्ध से बड़प्पन मानता है, वह भ्रम है। एक ही जीव, जो गुण होने पर वन्द्य था, गुणो के नष्ट हो जाने पर निन्द्य हो गया तो पूर्व मे अन्य जीव गुणवान् हुए थे और स्वयं भ्रष्ट हो गया तब उनके गुणो से यह स्वय कैसे वन्द्यपने को प्राप्त होगा। अपने वर्तमान गुणो ही से वन्द्यपना होता है, ऐसा निश्चय करना।

बहुत गुणों के होने पर भी दोष का अश रहना भला नही है। उस दोषांश के रहते हुए वह दोषमयपना ही भला है, ऐसा अन्योक्ति अलंकार के माध्यम से व्यक्त करने-वाला सूत्र कहते हैं -

दोष का अश भी अच्छा नही

(वसन्ततिलका छन्द)

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
कि ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या,
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः॥१४०॥

अर्थ — हे चन्द्रमा ! तू कालिमा रुप लांछन सहित क्यो हुआ ? यदि तुझे लांछन सहित ही होना था तो तू सर्व ही कालिमामय क्यो न हो गया ? अरे ! तेरे लाछन रूप मल को अत्यन्त प्रकर्षता से बतलाने - वाली अवशेष ज्योति से क्या सिद्ध होने-वाला है ? विचार तो कर, यदि राहु के समान सर्व ही काला होता तो तू किसी के द्वारा देखने योग्य, टोकने योग्य तो नही रहता।

भावार्थ — यहॉ अन्योक्ति अलकार के माध्यम से चन्द्रमा को उलाहना दिया है सो कोई ऊँची मुनिपदवी धारण कर उसमे दोष लगाता है उसके लिए यह उलाहना जानना। जैसे चन्द्रमा उज्ज्वल पदवी का धारक है परन्तु उसमे किचित् कालिमा दिखाई देती है, इस कारण सब उसको कलकी कहकर टोकते हैं। राहु तो सम्पूर्ण ही काला है उसका ऐसा ही पद जानकर कोई उसे टोकता नही, उसी प्रकार तू निर्मल ऊँची मुनि पदवी का धारक हुआ है, यदि तुझमे कोई दोष दिखाई देता है तो उस कारण तुझे कलकी मानकर सब टोकते हैं जबकि जो नीचे की गृहस्थ पदवी का धारक सर्व मल से भी युक्त है तो उसका ऐसा ही पद जानकर कोई उसे टोकता नही। इस प्रकार चन्द्रमा के बहाने उसको शिक्षा दी है कि तू दोष सहित क्यो हुआ ? और यदि दोष सहित होना ही था तो सम्पूर्ण ही दोषयुक्त क्यो नही हुआ ? ऊँची मुनि पदवी छोड़कर नीची गृहस्थ पदवी ही अगीकार करनी थी। रे ! तू ऊँची मुनि पदवी की कई क्रियाओ को साधे है सो इनसे क्या सिद्ध होने-वाला है ? ये तेरे दोष को ही प्रकट करती हैं। यदि तू भी गृहस्थ रहे तो अन्य गृहस्थ के समान टोकने योग्य तो न रहे। अत हमारी यही शिक्षा है कि - जो ऊँची मुनि पदवी को धारण किया है तो दोष को मत धारण कर और यदि धारण करता है तो मुनि पद को मत धार। आदिपुराण मे भी ऐसा कथन है - आदिनाथ स्वामी के साथ चार हजार मुनि दीक्षा लेकर भ्रष्ट हुए। तब देवताओ ने उनको कहा - इस पदवी मे रहकर ऐसा आचरण करोगे तो हम तुम्हे दण्डित करेगे। इस पदवी को छोड़कर जैसे रुचे वैसे करो। यहॉ कोई कहे - लोग तो जैसा कहे वैसा कहते रहे परन्तु फल तो जितने गुण-दोष होगे उतना ही लगेगा, इसका उत्तर षट्पाहुड मे इस प्रकार कहा है -

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुअं ततो पुण जाइ णिग्गोयं।।

अर्थ — यथाजातरूप सदृश नग्न मुनि है सो पदार्थो मे तिल का तुष मात्र भी ग्रहण नही करता है। यदि थोड़ा-बहुत भी ग्रहण करे तो उससे निगोद मे जाना पड़े। सो देखो, गृहस्थ जो परिग्रह का धारी है, थोड़ा-सा भी धर्म साधे तो भी शुभगति को प्राप्त करे और मुनि थोड़ा-सा भी व्रत भग करे तो निगोद मे जाये। न्याय भी ऐसा ही है - अनशन तप धारण कर अन्न का दाना भी ग्रहण करे तो पापी बने। किन्तु अनशन व्रत तो न धारे और अवमौदर्य तप मे उससे (दाने से) भी अधिक भोजन करे तो भी धर्मात्मा होवे। अत यह बात सिद्ध हुई कि दोष सहित ऊँची पदवी से नीचे की पदवी ही भली है। दोष लगाकर ऊँची पदवी को बिगाड़ना योग्य नही।

दोषो के विद्यमान रहते उनको प्रकाशित करने-वाले और आच्छादित करने-वाले दुर्जन और आचार्य की हितकारी, अहितकारीपने से आराधने अथवा न आराधने की योग्यता को दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं -

दुर्जन ही सद्गुरु है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तै सहसा म्रियेद्यदि गुरु. पश्चात् करोत्येष किम् ।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूश्च स्फुट,
ब्रूते य सतत समीक्ष्य निपुणं सोऽय खलः सद्गुरु.।।१४१।।

अर्थ — कोई गुरु प्रवृत्ति रखने का भाव कर शिष्य के विद्यमान दोषो को छिपाकर चलता है और जो यह शिष्य उन दोषो सहित शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो बाद मे वह गुरु क्या कर सकता है ? अत. ऐसा (गुरु) मेरा गुरु नही हो सकता। परन्तु जो दोष-दर्शन मे जैसे प्रवीण हो वैसे ही निरन्तर भली प्रकार देखकर मेरे थोड़े दोषो को भी अधिक बढा-चढाकर प्रकट रूप से कहता है, ऐसा जो दुर्जन है वह मेरा भला गुरु है।

भावार्थ — पूर्व श्लोक मे दोषी की निन्दा की थी, अत कोई कहे कि अवगुणग्राही होना युक्त नही, आपको तो गुणो को ही ग्रहण करना चाहिए। उसे कहते हैं - जो स्वय दोषी भी है और अपना उच्चपना भी रखना चाहता है, उसे दोष दर्शाने-वाला व्यक्ति बुरा लगता है। परन्तु जो धर्मात्मा अपने पदस्थ से अधिक ऊँचापन्ना प्रकट करना नही चाहता हो और स्वय मे कोई दोष भी हो तो उसको छोड़ना चाहता हो, उसे दोषदर्शी व्यक्ति भी बुरा नही लगता। अत धर्मात्मा यहाँ ऐसा विचार करता है कि गुण-दोष का ज्ञान तो गुरु के उपदेश से होता है। यदि कोई गुरु प्रवृत्ति कराने के लोभ से,

जिससे उसका सम्प्रदाय वृद्धिंगत हो, वैसा करना चाहे और दोषों को न कहे तो शिष्य को अपने दोषो का ज्ञान ही न हो तब वह उन्हे छोड़े भी कैसे ? यदि गुरु ऐसा विचारे कि इसके दोष बाद में छुड़ा देगे और वह शिष्य शीघ्र ही दोष सहित मरण को प्राप्त हो, कुगति मे जा पहुँचे तब गुरु क्या करे ? अत जो दोष को छिपाता है वह गुरु नही हो सकता। दुर्जन थोड़े दोषो को भी अवलोक कर उनको घना कहकर प्रकट करता है तब धर्मात्मा अपना दोष जानकर उसका अभाव करने को उद्यमी होता है। ऐसे दोष का कथन उपदेश समान गुणकारी होता है। इसलिए दोषो को कहने-वाला दुर्जन इस अपेक्षा गुरु समान कार्यकारी है। इस प्रकार जो धर्मात्मा है वह तो दोषो को छिपाने-वाले गुरु से भी अधिक अपने दोष कहने-वाले दुर्जन को भला जानता है। यहाँ शकाकार प्रश्न करता है कि दोषो का कथन करने पर मर्मच्छेद करने से पाप भी तो होता है ? इसका समाधान - जो ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत होकर बुरा करने के लिए दोष प्रकट करता है, उसको तो पाप का ही बन्ध होता है परन्तु जो करुणावन्त होकर दोषो को छुपाने के लिए दोष प्रकट करता है, उसको पुण्य ही होता है। प्रश्न - दुर्जन को तो पाप ही लगता है, उसको गुरु कैसे कहा ? उत्तर - दुर्जन तो पापी ही है परन्तु यहाँ दोष छिपाने-वाला गुरु दुर्जन से भी बुरा है। इस हेतु से अलकार रूप मे गुरु कहा है, परमार्थ से वह गुरु नही है। धर्मात्मा जन दोष कहने वालो को भी इष्ट मानते हैं।

यहाँ कोई तर्क करता है कि शिष्य के दोषो का कथन करने पर उसे चिन्ता उत्पन्न होती है अत ऐसा न होने देने के लिए आचार्य दोषो को छिपाकर रखते है -

कठोर होने पर भी गुरुवाणी आह्लादजनक है

(अनुष्टुप् छन्द)

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशव ।
रवेरिवारविन्दस्य, कठोराश्च गुरूक्तय॰।।१४२।।

अर्थ — गुरु की कठोर वाणी भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करती है जैसे सूर्य की कठोर किरणे कमल की कलियो को प्रफुल्लित करती हैं।

भावार्थ — श्री गुरु दोष छुड़ाने के लिए अथवा गुणग्रहण कराने के लिए कदाचित् असुहावने कठोर वचन भी कहे तो भव्य जीव का मन उन वचनो से आनन्दित ही होता है, उसके चिन्ता-खेद नही होते। जैसे सूर्य की किरणे औरो को तो आताप (गर्मी) पैदा करने वाली कठोर होती है फिर भी कमल की कलियो को तो प्रफुल्लित ही करती हैं। वैसे ही गुरु के वचन पापी को अपनी हीनता रूप दु ख उत्पन्न करने-वाले कठोर होते है फिर भी धर्मात्मा के मन में तो आनन्द ही उत्पन्न करते हैं। धर्मात्मा को श्रीगुरु दवाई रूप उपदेश देते है तब वह अपने को धन्य मानता है। यहाँ कोई कहे कि कठोर उपदेश से पापी भी तो दु.ख ही पाता है, उसका उत्तर - जिसे तीव्र कषायी पापी जाने, उसे तो कठोर उपदेश देते भी नही, वहाँ माध्यस्थ्य भावना भाते हैं। यहाँ तो शिष्य को यह शिक्षा दी गई

है कि श्रीगुरु भला होने के लिए कठोर वचन कहते हैं, कोई उन्हे ईर्ष्या (प्रयोजन) तो है नही अत उनको इष्ट जानकर उनका आदर ही करना। आगे वैसी वाणी से धर्म का कथन करने की और अंगीकार करने मे सावधान प्राणियो की सख्या इस काल मे थोड़ी ही है, ऐसा कहते हैं -

हितकारक वाणी की दुर्लभता

(अनुष्टुप् छन्द)

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभा पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः।।१४३।।

अर्थ — पहले तो दोनो लोको मे हितकारी ऐसे धर्म को कहने-वाले और सुनने-वाले तो सुलभ थे, करने-वाले दुर्लभ थे, अब इस काल मे कहने-वाले और सुनने-वाले भी दुर्लभ हो गये हैं।

भावार्थ — जो धर्म इस लोक मे और परलोक मे भी जीव का भला करे, ऐसे धर्म के कहने-वाले और सुनने-वाले पूर्व मे - चौथे काल मे बहुत थे परन्तु धर्म को अगीकार करने-वाले तब भी थोड़े ही थे। संसार मे धर्मात्मा थोड़े ही होते हैं। अब यह पंचमकाल ऐसा निकृष्ट है कि इसमे सच्चे धर्म को कहने-वाले और सुनने-वाले भी थोड़े ही मिलते है। कहने-वाले तो अपने लोभ, मानादिक के आकाक्षी हो गये, इसलिए यथार्थ कहते नही और सुनने-वाले जड़-वक्र हो गये, इसलिए परीक्षारहित हठग्राही होकर यथार्थ बात सुनते नही। और जब कहना-सुनना ही दुर्लभ हो गया तो अगीकार करने की क्या बात ? इस प्रकार इस काल मे धर्म दुर्लभ हो गया सो उचित ही है। यह पचमकाल इतना निकृष्ट है कि इसमे सभी उत्तम वस्तुओ की हीनता होती जाती है। तब धर्म भी तो उत्तम है, उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है ? इस निकृष्ट काल मे जिसे धर्म की प्राप्ति होती है, वही धन्य है।

यहाँ कोई सन्देह करे कि दोनो लोको मे हितकारी धर्म का कथन करने- वाले श्री गुरु को औरो के दोष कहकर उन दोषो से निवृत्ति करानी (चाहिए)। ऐसा करने पर शिष्य के अपने दोष प्रकट होने से अनिष्ट का सयोग होता है, इससे वह आर्त्तध्यानी होकर किसी भी भले मार्ग मे प्रवृत्ति नही करता। इस सन्देह को दूर करने-वाला सूत्र कहते है -

यथार्थ कठोर उपदेश भी ग्राह्य है

(पृथ्वी छन्द)

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामऽतिप्रीतये।
कृतं किमपि धार्ष्ट्यत. स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता।।१४४।।

अर्थ — गुण और दोष का विवेक रखने-वाले सत्पुरुषों के द्वारा अतिशयता से अपने दोष प्रकट करने पर भी - बुद्धिमान् जीवो को जैसे भला उपदेश प्रीति उत्पन्न करने-वाला होता है वैसे ही (वह दोष-प्रकटीकरण) भी अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करने-वाला होता है। धर्मतीर्थ का सेवन न करने-वाले जीवो के द्वारा धृष्टपने से किया गया गुणानुवाद भी उन बुद्धिमानो के मन को सन्तुष्ट नही करता है। यहॉ अन्यथापने की प्रतीति होती है सो यह अज्ञानता खेदजनक है।

भावार्थ — जो जिसका हित चाहता है वह तो वैसा ही काम करता है जिससे उसका भला हो। इसलिए उस जीव के, बुरा होने के कारण दोषो को छुड़ाने के लिये सत्पुरुष दोष भी प्रकट करते हैं। यदि वे दोष प्रकट न करे तो अज्ञानी जीव अपने दोषो को कैसे जाने और बिना जाने दोषो को कैसे छोड़े। परन्तु जो जिससे अपना लोभादिक प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है वह तो वैसा ही करता है जिससे वह प्रसन्न हो सके, अत वह उसके दोषो को भी धृष्टतापूर्वक गुण बताकर प्रशंसा करता है। यदि वह प्रशसा न करे तो अज्ञानी जीवो का मान कैसे बढे ? और यदि उसका मान न बढावे तो यह भी उसका प्रयोजन क्यो सिद्ध करे। इस प्रकार सत्पुरुष दोष भी करते है और अधर्मी प्रशंसा भी करते हैं। मूर्ख को तो दोष कहना अनिष्ट और गुण कहना इष्ट प्रतीत होता है। परन्तु जो विवेकी हैं वे जानते हैं कि मेरा भला करने के लिए ही मेरे दोष प्रकट करते है। सो मेरे दोषो का जो प्रकट करना है वही मेरे लिए भली शिक्षा है। ऐसा विचार कर वहॉ इष्टपना मानता है किन्तु जो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दोष को गुण बताता है वह तो ठग है। यह प्रशसा ही मेरे बुरा होने का कारण है ऐसा विचार कर उसे अनिष्ट मानता है। अत दोष कहने पर विवेकियो को आर्त्तध्यान हो जाता है, ऐसा भ्रम करना ठीक नही।

दोष प्रकट होने पर दोष-दर्शन से उन दोषो का त्याग करना और गुण-दर्शन से गुणो को ग्रहण करना - यही बुद्धिमानो के करने योग्य कार्य हैं, ऐसा कहते हैं-

ज्ञानियो मे श्रेष्ठ कौन ?

(अनुष्टुप् छन्द)

त्यक्त हेत्वन्तरापेक्षौ, गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ, स एव विदुषां वर ।।१४५।।

अर्थ — अन्य कारणो की अपेक्षा छोड़कर, ग्रहण और त्याग के लिए गुण-दोष ही जिस जीव के प्रधान कारण होते हैं, उसे ही ज्ञानियो मे श्रेष्ठ जानना।

भावार्थ — किसी को ग्रहण करना और किसी का त्याग करना - जीवो के ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है। यहॉ सम्यग्दर्शनादिक गुण जिनसे उत्पन्न हो उनको तो ग्रहण करना और जिनसे मिथ्यात्वादिक दोष उत्पन्न हो उनका त्याग करना। इस प्रकार गुण-दोष की अपेक्षा से ही जिनके

ग्रहण और त्याग देखा जाता है, अन्य कोई विषयकषायादिक का प्रयोजन जहाँ नही होता, उन जीवों को उत्कृष्ट ज्ञानी जानना चाहिए। क्योंकि इनसे ये अपने हित की सिद्धि करते हैं और हित सिद्ध करना ही बुद्धिमानों द्वारा करने योग्य कार्य है।

आगे अन्यथा ग्रहण-त्याग में दूषण बताते हैं -

अहित को छोड़कर हित मे बुद्धि कर

(अनुष्टुप् छन्द)

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीदुःखायसे भृश।
विपर्यये तयोरोधि त्वं सुखायिष्यसे सुधी·।।१४६।।

अर्थ — हे जीव ! तू हित को छोड़कर अहित मे स्थित होकर दुर्बुद्धि बना हुआ अपने आपको अत्यन्त दु खी करता है। अत तू सुबुद्धि होकर इससे विपरीत भाव अर्थात् अहित को छोड़कर हित मे स्थित होने मे आगे बढ। इससे तू अपने सुख को प्राप्त करेगा।

भावार्थ — हे जीव ! तूने सम्यग्दर्शनादिक हितकारी गुणरूप कार्य का तो त्याग कर दिया और मिथ्यादर्शनादिक अहितकारी दोष रूप कार्य को ग्रहण कर लिया, ऐसे त्याग-ग्रहण से तू अनादिकाल से ही दु खी हुआ है। अत. तू अपनी अवस्था पर विचार कर कि 'मैंने कैसा परिणमन किया और उसका फल मुझे क्या मिला।' यदि तू अपने वर्तमान परिणमन से विपरीत परिणमन करे अर्थात् गुण को तो ग्रहण करे और दोष को छोड़ दे तो तू अवश्य सुखी हो सकेगा। कारण कि विपरीतता से कार्य भी विपरीत ही होता है। जैसे जल को छोड़कर अग्नि का सेवन करने से तो आताप ही होता है। हाँ, अग्नि को छोड़कर जल का सेवन करने पर शीतलता होगी-ही-होगी। उसी प्रकार जिस अनादि परिणमन से तू दु·खी हुआ है उससे विपरीत परिणमन करे तो सुखी अवश्य होगा। सो अनादि से तो गुण छोड़कर दोषो का सेवन किया अत अब तुझे दोष छोड़कर गुणो का ग्रहण करना ही योग्य है।

अब कारण सहित गुण और दोष जानने चाहिए, सो कहते हैं -

हित के कारणो को भजने-वाला ज्ञानी है

(शिखरिणी छन्द)

इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमितो,
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति य.।
त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्,
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसो·।।१४७।।

अर्थ — ये दोष हैं और इनकी उत्पत्ति इन कारणो से होती है। इस प्रकार का निश्चय करने-

वाला जो जीव छोड़ने योग्य कारणो को तो शीघ्र छोड़ता है और हित के कारणो को भजता है, वही ज्ञानी है, वही सम्यक्चारित्री है और वही सुख और यश का निधान है।

भावार्थ – जो विवेकी पुरुष है वह पहले तो दोष और गुण को पहचाने। विचार करने पर उसे मिथ्यात्वादिक तो दोष दिखाई दे जिन्होने इस आत्मा को दु खी कर रखा है और सम्यक्त्वादिक गुण प्रतीत हो जो इस आत्मा को सुखी करते हैं। फिर दोषो और गुणो के कारणो को पहचाने, इस सम्बन्ध मे विचार करने पर कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रादिक या विषयादिक सामग्री तो दोष के कारण प्रतीत हो और सुदेव, सुगुरु, सुशास्त्रादिक या व्रत, सयमादिक गुण के कारण प्रतीत हो, ऐसा निश्चय होने पर दोष के कारणो को छोड़े और ग्रहण योग्य गुणो के कारणो को ग्रहण करे। यहाँ दोष, गुण और उनके कारणो का निश्चय कर जानना सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान है और दोषो के सम्पूर्ण कारणो को छोड़कर गुणो को ग्रहण करना सो सम्यक्चारित्र है। ये तीनो मिलने पर मोक्षमार्ग होता है, इनका फल मोक्ष है। वहाँ अनन्त सुख का अनुभव होता है और उसकी सब प्रकार से महिमा होती है। अत सर्व प्रथम कारण सहित गुण-दोष को जानना योग्य है।

विवेकी जीव के लिये हित की वृद्धि और अहित का नाश ये दोनो कारण करने योग्य हैं। क्योकि इनके बिना अन्य धनादिक मे जो वृद्धि-नाश है, वह तो सभी प्राणियो मे समान रूप मे पाया जाता है, ऐसा कहते हैं -

वास्तविक बुद्धिमान कौन ?

(वसन्ततिलका छन्द)

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ,
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात्।
धीमान् स य· सुगतिसाधनवृद्धिनाशः,
तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोभ्यधायि।।१४८।।

अर्थ – पूर्वजन्म मे अर्जित पुण्य-पाप कर्म के उदय रूप सयोग से शरीर, धनादिक की वृद्धि या नाश तो सभी प्राणियो मे समान रूप से देखे जाते हैं। बुद्धिमान् वही है जिसके सुगति के कारणभूत वृद्धि-नाश देखे जाते हैं। इस जीव से भिन्न अन्य जीव दुर्गति के कारणभूत वृद्धि-नाश से युक्त होने के कारण निर्बुद्धि हैं, ऐसा श्रीगुरु ने कहा है।

भावार्थ – लोक मे दरिद्रता का नाश होकर धनादिक की वृद्धि होने पर जीव को बुद्धिमान् माना जाता है। धनादिक का नाश होकर दरिद्रता की वृद्धि होने पर उसे निर्बुद्धि माना जाता है। सो यह मान्यता तो मिथ्या है। ऐसे वृद्धि-नाश मे तो जीव का कुछ भी कर्तृत्व नही है क्योकि जैसा पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का उदय होता है वैसा कार्य स्वयमेव सब जीवो के होता है। सो प्रत्यक्षत·

कोई बहुत बुद्धिमान् भी दरिद्री देखा जाता है। कोई सब प्रकार से मूर्ख होने पर भी धनिक देखा जाता है। एक ही जीव जिस बुद्धि से अधिक बुद्धिमान् हुआ है, वही जीव उसी बुद्धि से निर्धन होते भी देखा जाता है। अत ऐसे वृद्धि-नाश मे तो बुद्धि का कुछ प्रयोजन ही नही है। इसमे पुरुषार्थ मानना निरर्थक है। सम्यक्त्वादिक धर्म रूप भावो की वृद्धि हो और मिथ्यात्वादिक अधर्मरूप भावो का नाश हो तब बुद्धिमान् मानना चाहिए। मिथ्यात्वादिक की वृद्धि और सम्यक्त्वादिक का नाश होने पर तो उसे निर्बुद्धि ही जानिए, यही सत्य है। ऐसे वृद्धि-नाश मे जीव का कर्त्तव्य है। जैसा अपनी बुद्धि का विचार हो जीव के वैसा ही कार्य उसका किया हुआ होता है सो प्रत्यक्ष देखते हैं कि कोई-कोई तिर्यंच भी अपनी बुद्धि से धर्मसाधन कर स्वर्गादिक प्राप्त करता है और कोई राजादिक भी निर्बुद्धि होकर अधर्म-साधनो से नरकादिक प्राप्त करता है। अतः ऐसे धर्म के वृद्धि-नाश मे ही बुद्धि का प्रयोजन है, यही पुरुषार्थ करने योग्य है।

सुगति के साधनभूत धर्मरूप भावो की वृद्धि करने-वाले जीव थोड़े है, यह दर्शाने-वाला सूत्र कहते है -

कलियुग मे धर्म की रक्षा कठिन है
(शिखरिणी छन्द)

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम्।
नतानामाचार्या न हि नतरताः साधुचरिताः,
तपस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरला ।।१४९।।

अर्थ — कलिकाल मे नीति तो दण्ड है। दण्ड देने पर न्यायमार्ग चलता है। सो दण्ड का अधिकार राजाओ को है। राजा बिना अन्य कोई दण्ड देने मे समर्थ नही। वे राजागण धन के लिए न्याय करते हैं। जिससे धन आने का प्रयोजन सिद्ध न हो ऐसा न्याय राजा करते नही। यह धन आश्रमवासी मुनियो के पास होता नही, उनका तो वेष ही धनादिक से रहित है, ऐसे इन भ्रष्ट हुए मुनियो को राजा न्यायमार्ग मे लगाते नही। जो आचार्य हैं वे स्वय को विनय, नमस्कारादिक कराने के लोभी हो गए अत नम्रीभूत हुए मुनियो को वे भी न्यायमार्ग मे नही प्रवर्ताते। इस प्रकार इस काल मे जैसे शोभायमान उत्कृष्ट रत्न थोड़े पाये जाते हैं वैसे ही भले आचरण वाले तपस्वी मुनि विरले ही देखे जाते हैं।

भावार्थ — इस पचम काल मे जीव जड़-वक्र उत्पन्न होते है, वे दण्ड के भय बिना न्यायमार्ग में प्रवृत्ति करते ही नही। लोकपद्धति मे तो दण्ड देने-वाला राजा है और धर्मपद्धति मे आचार्य है। राजा तो वही न्याय करता है जहॉ से उसका धन का प्रयोजन सिद्ध हो, मुनियो के पास धन है नही। (राजा के लिए तो) वे जैसे प्रवर्तो वैसे प्रवर्तो। आचार्य जो है, विनय के लोभी हो गये, सो

दण्ड देते नही। इस प्रकार भय के बिना मुनि स्वच्छन्द हो गये हैं। कोई विरले मुनि ही यथार्थ धर्म को साधने-वाले रहे हैं।

जो मुनि आचार्यों को नमन नही करते, उनकी आज्ञा मे नही रहते और स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, उनकी संगति करना उचित नही है -

भ्रष्ट मुनि सगति के योग्य नही

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै-
रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः।
संधर्तु विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः,
मा व्राजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान्।।१५०।।

अर्थ — ये प्रत्यक्ष मुनि नही है और जो अपने आपको मुनि मानते है वे स्त्रियो के कटाक्ष अवलोकन से कवलित (ग्रासीभूत) हुए हैं। उनके द्वारा ग्रसे गए अंग लिये वे उसी प्रकार वन मे विचरण करते हैं जिस प्रकार शर से बीधा हुआ मृग व्याकुल होकर वन मे घूमता रहता है। ये विषय रूप वनस्थली मे फँस कर अपने आपको कही स्थिर रखने मे समर्थ नही होते। ये पवन द्वारा प्रताड़ित बादल के समान चपल होते हैं। हे भव्य! तू ऐसे भ्रष्ट मुनियो की सगति को मत प्राप्त कर।

भावार्थ — जैसे बाण से बीधा हुआ हरिण उसकी पीड़ा से व्याकुल हुआ कूदता फिरता है, कही वनभूमि मे स्थिर नही रह पाता, उसी प्रकार ये मानी भ्रष्ट मुनि हैं। इनके अन्तरंग मे स्त्रियो के कटाक्षरूप अवलोकन से कामबाण लगा है सो ये उसी की पीड़ा से व्याकुल हुए भटक रहे हैं, भ्रमित हो रहे हैं। कही विषयो मे भी मन लगाने में समर्थ नही हैं। काम की तीव्रता के कारण धर्मसाधन करना तो दूर रहा परन्तु देखना, सूँघना, सुनना इत्यादि विषयो मे भी मन को स्थिर नही कर सकते हैं। जिस प्रकार पवन द्वारा विघटित बादल चचल होते हैं उसी प्रकार विकार-भाव से भ्रष्ट किये गये ये भ्रष्ट मुनि चचल हो रहे हैं। उनका तो होनहार ऐसा ही है। परन्तु हे भव्य! तेरे कुछ धर्मबुद्धि है अत तुझे सीख देते है कि ऐसे भ्रष्ट की सगति तू मत कर। यदि तू संगति करेगा तो तू भी उनका साथी होकर दुर्गति को प्राप्त होगा। अभिप्राय यह है कि भ्रष्ट मुनि सगति के योग्य भी नही है।

इनकी संगति को न प्राप्त होता तू ऐसी सामग्री पाकर याचना-रहित हुआ ठहर। ऐसी सीख देने वाला सूत्र कहते हैं -

साधु का वास्तविक स्वरूप अयाचनावृत्ति

(वसन्ततिलका छन्द)

गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहायः,
संयानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः।

प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र-
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि याति वृथैव याञ्चाम।।१५१।।

अर्थ — प्राप्त किया है आगम का अर्थ जिसने ऐसे जीव को सम्बोधित करते हैं। हे प्राप्तागमार्थ! गुफा तो तेरा घर है और दिशाओ को तू पहनता है, आकाश तेरी सवारी है, तपश्चरण मे वृद्धि तेरा इष्ट भोजन है। गुण ही तेरी स्त्री है। तू अयाचनावृत्ति वाला हुआ है (ऐसी सामग्री किसी के पास नही) फिर तू क्यो व्यर्थ ही याचना को प्राप्त होता है। तुझे दीन होना उचित नही।

भावार्थ — लोक मे इतनी वस्तुओ की चाह होने पर याचना की जाती है। पहले तो धन की याचना-सो हे प्राप्तागमार्थ! तूने आगम का अर्थ सो ही अटूट सर्व मनोरथ को सिद्ध करने-वाला धन पाया। फिर घर की याचना-सो गुफा आदि अपने आप बने हुए तेरे घर प्राप्त है। वस्त्र की याचना करे सो तू तो दिशा रूपी वस्त्र को पहरे है, दिगम्बर हुआ है। सवारी की याचना करे तो आकाश रूपी सवारी तुझे प्राप्त है, जहॉ इच्छा हो वहाँ गमन कर। भोजन की याचना करे तो तप की वृद्धि ही तुझे तृप्ति उत्पन्न करने-वाला इष्ट भोजन है। स्त्री की याचना करे सो क्षमा आदि गुण ही तुझे रमाने वाली स्त्री है। ऐसी सामग्री तुझे प्राप्त है, फिर तुझे अब क्या चाहिए सो तू याचना करता है। तेरी तो दीनतारहित सर्वोत्कृष्ट वृत्ति हुई है अत तू याचनारहित हो, ऐसी शिक्षा तुझे दी है।

जो याचना करता है वह छोटा है और जो न करे वह बड़ा है, यह दिखाने-वाला सूत्र कहते है -

याचक सबसे लघु और अयाचक महान् होता है

(अनुष्टुप् छन्द)

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ।।१५२।।

अर्थ — परमाणु से अन्य कोई लघु नही और आकाश से अन्य कोई बड़ा नही, ऐसा कहने-वाले पुरुष ने क्या इन दीन और अभिमानी को नही देखा ?

भावार्थ — परमाणु से छोटा कोई पदार्थ नही और आकाश से बड़ा कोई पदार्थ नही, ऐसा कहने-वाले ने शायद दीन और अभिमानी पुरुषो को नही देखा। जो दीन को देख लेता तो परमाणु से भी छोटा दीन को कहता और अभिमानी को देख लेता तो आकाश से भी बड़ा अभिमानी को कहता। अभिप्राय यह है कि जो याचना करने-वाला दीन पुरुष है वह धर्म तथा मानादिक घटने से सबसे छोटा हो जाता है और याचना करे ऐसा अभिमानी है सो धर्म वा मानादिक बढने से सबसे बड़ा है। यहाँ प्रश्न है - जो दीन के मानादिक घटते हैं वहाँ धर्म कैसे नही है ? और अभिमानी के मानदिक बढ़ते हैं वहाँ धर्म कैसे होता है ? कषाय-धर्म के तो प्रतिपक्षीपना देखा जाता है। उत्तर - किसी कषाय

की तीव्रता करके कोई कषाय घटे वहाँ धर्म नही। दीन के लोभ कषाय की तीव्रता से मानादिक घटते हैं अतः इसके धर्म नही, पाप ही उत्पन्न होता है। पुनश्च सर्व कषाय घटने से भ्रान्ति से कोई अवस्था कषायी की सी प्रतीत हो, वहाँ धर्म ही है। यहाँ मान-कषाय वाले का नाम अभिमानी नही है। लोभ से किसी से याचना नही करे उसका नाम अभिमानी है। सो इसके सर्व कषाय मन्द होने से लोभ से पापी जीवो के प्रति नम्रता नही होती, अत· भ्रम से यह मानी-सा भासता है परन्तु वास्तव मे मानी है नही इसलिए इसके धर्म ही होता है। ऐसा जानकर दीनता नही करनी चाहिए।

अब पूछते हैं कि उस याचक का गौरव कहाँ चला गया जिससे उसको लघुपना प्राप्त हुआ, उत्तर कहते हैं -

याचक का गौरव दातार मे सक्रमित

(अनुष्टुप् छन्द)

याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा।।१५३।।

अर्थ — मैं ऐसा मानता हूँ कि जो याचक का गौरव है वह दातार मे सक्रमित हो गया। यदि ऐसा न होता तो याचना-काल मे याचक और दातार छोटे-बड़े कैसे हो जाते।

भावार्थ — उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से आचार्य कहते हैं - हमको ऐसा लगता है कि पहले तो दोनो पुरुष (याचक और दातार) समान थे। फिर जिस समय याचक ने याचना की और दातार ने दिया, उस समय याचक का बड़प्पन निकलकर दातार मे पहुँच गया। अतएव तत्काल याचक तो हल्का हो गया और दातार महन्त हो गया। यदि ऐसा नही होता तो उस समय (याचना के समय) याचक संकोचादिक रूप से हीन क्यो प्रतीत होता और दातार प्रफुल्लतादि रूप से महन्त क्यो लगता। इसलिए दीनपना निषिद्ध है। कोई कहे कि यदि ऐसा है तो मुनि भी तो दान लेते हैं, उनको भी हीन कहो। इसका उत्तर यह है कि मुनि याचनापूर्वक दीन होकर दान नही लेते हैं। जैसे कोई राजाओ को भेट देता है वैसे भक्त पुरुष विनयपूर्वक दान देता है, वहाँ भी मुनिराज लोभ से आसक्त होकर ग्रहण नही करते हैं अत वे हीन नही होते है। लोभ से दीनतापूर्वक लेना चाहे, वही पुरुष हीनता को प्राप्त होता है।

लेने-वाले और देने-वाले की गति विशेष को दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं-

दाता और याचक की दशा

(अनुष्टुप् छन्द)

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षव।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयो·।।१५४।।

अर्थ — जिनके ग्रहण करने की इच्छा पाई जाती है वे अधोगति को प्राप्त होते हैं। जिनके ग्रहण करने की इच्छा नहीं वे ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं। तराजू के दो पलड़े नीचे, ऊँचे होते हुए मानों स्पष्ट रूप से यही कहते हैं।

भावार्थ — तराजू के दोनो पलड़े समान हैं। इनमे से जो अन्य वस्तु का ग्रहण करे वह तो नीचा हो जाता है और जो न ग्रहण करे वह ऊँचा हो जाता है। ये इस प्रकार होकर मानो यह प्रकट करते हैं कि जैसे हमारी दशा होती है वैसे ही जो लोभ से ग्रहण करेगा वह तो तत्काल नीचा हो जाएगा और आगे भी नरकादिक नीची गति को प्राप्त होगा। और जो लोभ का त्याग कर ग्रहण नही करेगा वह तत्काल ही ऊँचा रहेगा और आगे भी स्वर्ग-मोक्ष ऊँची गति को प्राप्त होगा। इस प्रकार युक्ति से यह प्रयोजन दर्शाया है कि दीनता से हीनता और दुर्गति होती है अत दीनता नही करनी चाहिए। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि दीनता मे ऐसा क्या पाप है ? उसका उत्तर देते हैं - दीन पुरुष के लोभ कषाय इतना तीव्र हो जाता है कि उसके आगे अन्य कषाय भी निर्बल हो जाते हैं, लोक-लज्जा भी मिट जाती है, धर्म को भी वह नही गिनता। अधिक क्या कहे - धर्म सर्वोत्कृष्ट है, उसका भी अपमान कराकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है अत दीनता महापाप है।

याचको के मनोवाछित प्रयोजन की सिद्धि न कर सके, ऐसे ईश्वरपने से तो दरिद्रपना ही भला है, यह दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं -

अतृप्तिकर धनिकपने से धनहीनपना ही भला है

सस्वमाशासते सर्वे न स्वं तत् सर्वतर्पि यत्।
अर्थिवैमुख्यसम्पादिसस्वत्वान्निस्वता वरम्।।१५५।।

अर्थ — धनसम्पन्न पुरुष से सब ही याचना करते हैं किन्तु ऐसा धनादिकपना होता नही है कि जो सभी को तृप्त कर सके अनएव धनाभिलाषियो को विमुख करने-वाले ऐसे धनसहितपने से धनरहितपना ही भला है।

भावार्थ — कोई यह जानता होगा कि धनवान होने पर धनाभिलाषियो के सभी मनोरथ पूर्ण किये जाते हैं इसलिए धनवान होना श्रेष्ठ सो ऐसा धनवानपना तो किसी के नही हो सकता जिससे सभी आकाक्षियो के मनोरथ पूर्ण किये जा सके। और किञ्चित् धनवानपना हो तो सभी अर्थी इससे आशा करे, वहाँ सबकी आशा पूर्ण हो नही सकती, तब वे धनाभिलाषी-अर्थी दु·खी होकर विमुख हो जाते हैं। अत· ऐसे धनवानपने से तो निर्धनपना ही अच्छा है। निर्धन होने पर कोई इससे आशा नही करता। प्रत्यक्ष देखो - धनवान के - राजा, मित्र, स्त्री, पुत्र याचकादि सभी लागू होते हैं और निर्धन के कोई लागू नही होता। अत दातार होने के लिए जो धनवान होने की चाह करता है वहाँ लोभ और मान का आधिक्य जानना। जो स्वयमेव धनवान हो और सर्वत्याग नही

कर सके, वहाँ दान देने में कुछ लोभ का त्याग हुआ, उससे उतना ही भला होता है। इसलिए उसको दान देना कहा जाता है। दान का छलकर धनवानपने को भला जानना योग्य नही है।

जो धनवान से याचना करते हैं उनकी आशारूपी खान कैसी होती है सो कहते हैं -

आशा अथाह है

आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च[१] या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम्।।१५६।।

अर्थ — जो आशारूपी खान निधियो से भी अत्यन्त अथाह हो गई वह भी जिसके द्वारा समान रूप कर दी गई ऐसा तेरे घना मान रूपी धन जानना।

भावार्थ — धनादिक की चाह का नाम आशा है, वही खान है जो नवनिधियो से भी अथाह है। निधियो से धनादिक निकाले तो भी निधियाँ टूटती नही, परन्तु कदाचित् उनकी तो थाह आ जावे जबकि धनादिक की चाहरूप आशा खान की थाह भी नही मिलती। नव निधियाँ प्राप्त होने पर भी आशा बढी ही रहती है, इससे जाना जाता है कि उन निधियो से भी इसके अथाहपना पाया जाता है। हे जीव ! जो तेरे इस सन्तोषवृत्तिपूर्वक याचनादिरूप नम्रता नही देखी जाती है, उसी का नाम यहाँ मान है। वही धन है जिसका प्रमाण बहुत है, इसी से आशारूपी खान समान रूप होती है। पूर्वोक्त मानधन होने पर आशा की अधिकता का अभाव होता है। इसलिए नवनिधियो से भी अभिमान रूपी धन को बड़ा जानकर सन्तोष धारणकर धनादिक के लिये याचना करनी योग्य नही। यदि आशा को मिटाने के लिए धनादिक की याचना की जाती है तो वह तो निधियाँ पाने पर भी नही मिटती तब थोड़े से धनादिक से कैसे मिटेगी ? सन्तोषवृत्ति धारणकर धनादिक के लिए नम्रीभूत न होना - इन परिणामो से आशा का अभाव होता है। अत ऐसा ही परिणमन उपादेय है।

वह आशा रूपी खान मानरूपी धन से कैसे समान हो गई ? ऐसा पूछने पर कहते है -

आशारूपी खान अथाह है

(अनुष्टुप् छन्द)

आशाखनिरगाधेयमधः - कृतजगत्त्रया।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता।।१५७।।

अर्थ — यह आशा रूपी खान अथाह है। कैसी है ? इसने तीनो जगत् नीचे किये हैं सो उस

---

१ काल, महाकाल, नैसर्प, पाण्डुक, पद्म, पिंगल, माणव, शंख और सर्वरत्न। इच्छित वस्तुओ को देने वाली शक्ति को निधि कहते हैं। ये निधियाँ खास तौर से चक्रवर्ती को अपने पूर्वोपार्जित पुण्य से प्राप्त होती हैं और सतत सभी प्रकार की भोगोपभोग सामग्री प्रदान करती हैं। - नवमांक अनुचिन्तन, पृ ३२-३३

आशारूपी खान मे रहने-वाले धनादिक को निकाल-निकाल कर सत्पुरुषो ने इसे समान कर दिया है, सो यही बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ — पाषाणादिक की कोई खान हो, उसमे से पाषाण आदि निकाल कर उस खान को अन्य भूमि के समान करना सो ही बड़ा कठिन काम है। फिर यह आश्चर्य देखो कि यह आशारूपी खान ऐसी तो अथाह है कि इसने तीनो लोको को नीचा कर दिया अर्थात् तीनों लोको की सम्पदा भी आशा मे नीची है और आशा उससे भी बड़ी है, ऐसी आशा रूपी खान में से विद्यमान पदार्थों को निकाल-निकाल कर सत्पुरुष इसको समान करते हैं। अभिप्राय यह है कि आशा मे अनेक पदार्थों की चाह होती है। जो सत्पुरुष हैं वे त्याग भाव से इसकी चाह छोड़ देते हैं, इस प्रकार सभी इच्छाओ को छोड़कर उस आशा को मिटा कर समान भाव अर्थात् वीतराग भाव मे प्रवृत्ति करते हैं।

निर्ग्रन्थपने का अवलम्बन लेकर महाव्रतो की प्रतिज्ञा करने-वाले मुनि के परिग्रह को अंगीकार करने का अभाव है। ऐसे पूर्वोक्त प्रकार से ही आशा को समान रूप करना योग्य है। यह दर्शाने-वाले 'विहित .. ' आदि दो श्लोक कहते हैं -

मुनि के लिए परिग्रह अग्राह्य है
(हरिणी छन्द)

विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय-
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित् कियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः,
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान्।।१५८।।

अर्थ — तपश्चरण को बढाते हुए मुनि शरीर की स्थिति के लिए गृहस्थो द्वारा भक्तिभाव से विधिपूर्वक दिये गए भोजन की क्वचित् - किञ्चित् इच्छा करता है। सो भी इस महात्मा मुनि के लिए यह अतिशय लज्जा का कारण है। तो फिर यह महात्मा अन्य परिग्रह रूपी खोटे ग्रहो को कैसे ग्रहण कर सकता है ? अर्थात् सर्वथा ग्रहण ही नही कर सकता।

भावार्थ — कोई अज्ञानी मनुष्य मुनियो के भी किञ्चित् परिग्रह मानता है, उसे समझाते हैं। मुनि के सभी आशाओ का अभाव हो चुका है, एक आहार मात्र की वाञ्छा उसके देखी जाती है। सो भी केवल शरीर की स्थिति के लिए वह आहार चाहता है क्योकि आहार के बिना मनुष्य का शरीर टिकता नही; मुनि शरीर की रक्षा भी केवल तपश्चरण के लिए करता है क्योकि मनुष्य शरीर के बिना तप होता नही अतः भोजन ग्रहण करके शरीर की रक्षा करके भी तप ही की वृद्धि करता है, प्रमादी नही होता और फिर आचारशास्त्र मे विहित विधि से आहार मिले तो ग्रहण करता है, आसक्त होकर

सदोष आहार ग्रहण नही करता है। अन्य गृहस्थो द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करता है, स्वयं नही बनाता है और अदत्त (दिये बिना) भी ग्रहण नही करता। भक्तिपूर्वक दिये गये आहार को ही ग्रहण करता है। याचना करके दातार को दबाकर नही लेता और फिर इस विधि का आहार भी नित्य नही ग्रहण करता। योग्यकाल मे अथवा उपवासो के पारणे के बाद ग्रहण करता है। और जब ग्रहण भी करता है तब भी भर पेट आहार नही करता, भूख से थोड़ा भोजन करता है। ऐसा आहार ग्रहण करता है तो भी महन्त मुनि को लज्जा लगती है, सो हम इतनी चाह करते हैं, यह हमारी हीनता है। पुनश्च, ऐसे भी कार्य मे जिसको लज्जा लगती है वह धन, वस्त्रादिक रूप दुष्ट परिग्रह को कैसे ग्रहण करे अर्थात् बिल्कुल ग्रहण नही करता क्योकि तीव्र राग बिना इन पदार्थो का ग्रहण होता नही।

जिनागम मे लगोट मात्र परिग्रह रखने-वाले को भी अणुव्रती कहा गया है। अधिक परिग्रह होने पर मुनिपना कैसे माना जा सकता है अत मुनि के वस्त्रादिक परिग्रह मानना मिथ्या है -

मुनियो को रागद्वेष उचित नही

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं,
गृह्णन्तः स्वशरीरतोऽपि विरता सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुन. कृत्वा कथं तत्फल,
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्व कले·।।१५९।।

अर्थ — इस मुनिधर्म मे गृहस्थ तो दातार है। देने योग्य भोजन ही धन है और आप (मुनि) सबका उपकार करने की इच्छा से उस भोजन को ग्रहण करते हुए भी अपने शरीर से विरक्त है, ऐसी जो यह क्रिया होती है सो भी इन बुद्धिमानो के लिए लज्जा का कारण है। पुनश्च, यह बड़ा आश्चर्य है कि ऐसे भोजन को मुनिभेष का फल समझ कर रागद्वेष के वशीभूत हो रहे है, यह सब कलिकाल का चक्रवर्तीपना ही है।

भावार्थ — गृहस्थ तो अपनी भक्ति से दातार हो और मुनि पात्र हो, वहाँ एक भोजन मात्र धन ही का दान है, अन्य धनादिक का दान नही है। ऐसे भोजन को भी मुनि ग्रहण करते हैं सो अपने, दातार के व अन्य जीवो के भले के लिए ही ग्रहण करते हैं। ऐसे नही कि आहार लेकर प्रमादी होकर अपना बुरा करे, दातार को कषाय उत्पन्न कराकर उसका बुरा करे अथवा अन्य जीवो के दोष का कारण बने, औरो का बुरा करे। आहार लेने पर भी वे अपने शरीर से विरक्त रहते हैं, जानते हैं कि यह शरीर भी मुझे इष्ट नही है परन्तु इससे तप का साधन करना है अत यह नष्ट न हो वैसा थोड़ा नीरस आहार करना। स्वादादिक के लोभ से आहार नही करते हैं। इस प्रकार से ग्रहण करने पर भी यह आहार मुनि के लज्जा उत्पन्न करता है। आहार ग्रहण से संकोच पैदा होता

है, इसे वे अपनी हीनता मानते हैं किन्तु आज यह बड़ा आश्चर्य हो गया है कि इस कलिकाल मे आहार के लिए मुनिपना अंगीकार करते हैं। इस भेष को धारण कर आजीविका की सिद्धि करते है सो हमको यह प्रतीत होता है कि यह सब कलिकाल रूप चक्रवर्ती की ही महिमा है। जैसे चक्रवर्ती अपने क्षेत्र के निवासी देवादिको से भी अपनी आज्ञा मनवाता है वैसे ही यह कलिकाल अपनी मर्यादा-सीमा में उत्पन्न हुए मुनियो आदि से भी विपरीत प्रवृत्ति करवाता है। यहाँ कोई कहे कि यह तो कालदोष है तो इस काल मे ऐसे ही मुनि मानो तो उसको उत्तर देते है कि कलिकाल मे अन्याय हो रहा है तो उसका न्याय तो नही मानना। यही जानना कि अन्याय की प्रवृत्ति कालदोष से है। उसी प्रकार कलिकाल मे भ्रष्ट भेषधारी विचरते हैं तो उनको मुनि तो नही मानने, यही जानना कि ऐसे भेषधारियो की प्रवृत्ति कालदोष से है। पुनश्च, जैसे कहा जाता है कि यह कार्य दुष्ट के उदय से हुआ है तो वहाँ दुष्टवत् उस कार्य की निन्दा जाननी, उसी प्रकार जहाँ यह कहा जाता है कि यह कार्य कलिकाल के कारण हुआ तो वहाँ भी कलिकालवत् उस कार्य की बहुत निन्दा की गई है, ऐसा जानना। इसलिए जो मुनि भेषधारी भोजनादिक के अभिलाषी होकर रागी-द्वेषी होते है उनकी निन्दा करने के लिए यहाँ कलिकाल की महिमा कही है।

रागद्वेष का आधीनपना कर्म के किये है, हे जीव! उस कर्म ने तेरा क्या किया है, सो कहते है -

मुनि को विषयो मे आसक्त होना उचित नही

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्य तथा,
सौख्यं चात्मसमुद्भव विनिहत निर्मूलत. कर्मणा।
दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः सतृप्यसे निस्त्रपः,
स त्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितिस्तुष्यसि।।१६०।।

अर्थ — हे जीव! कर्म ने तेरे स्वभावभूत तीन जगत् के ज्ञान के स्वामीपने को नष्ट कर दिया। वैसे ही आत्मजनित सुख भी मूल से ही नाश को प्राप्त हुआ। सो कर्म ने तो ऐसा किया। फिर भी तू निर्लज्ज हुआ दीनपने से उस कर्म द्वारा उत्पन्न इन्द्रियसुखो मे तृप्त हो रहा है। यातना सहकर अर्थात् उपवासादिक के कष्ट सहकर फिर मिलने-वाले कुत्सित नीरस आहार मे स्थिति/आजीविका बाँध कर सन्तुष्ट हो रहा है।

भावार्थ — जैसे किसी बड़े राजा को कोई शत्रु राज्यभ्रष्ट कर दे और वह राजा दीन होकर उसी का दिया हुआ किञ्चित् भोजनादिक पाकर प्रसन्न हो जाए तो उसको निर्लज्ज कहिए, धिक्कार दीजिए; वैसे ही हे जीव! तू अनन्तज्ञान, अनन्तसुख का स्वामी महान् पदार्थ है। ऐसे ज्ञान और सुख का नाश कर कर्मवैरी ने तुझको भ्रष्ट किया है फिर भी तू दीन होकर उस कर्मोदय से उत्पन्न किंचित्

विषयसुखों से सन्तुष्ट हो रहा है सो तू निर्लज्ज है, धिक्कारने योग्य है। जैसे उस राजा को शत्रु द्वारा दिये गये महाकष्ट से बुरा भोजन भी मिले तो वह राजा उसमे सन्तुष्ट हो जाए तो यह अत्यन्त निन्दनीय है, वैसे ही हे भ्रष्ट मुनि! तुझे कर्म द्वारा दिया गया भी बहुत सुख नही है। बहुत उपवासादि कष्ट सहने के बाद गृहस्थ के घर जैसा-तैसा आहार मिलता है और तू उसमे अपनी आजीविका की स्थिरता मान कर सन्तुष्ट हो रहा है अत: तू बहुत निन्द्य है। जैसे उस राजा को अपने शत्रु के नाश का उपाय करना योग्य है, वैसे ही तुझे कर्म का नाश करना ही योग्य है, विषयासक्त होना उचित नही।

जो तेरे इन्द्रियसुख की ही अभिलाषा है तो रहे, फिर भी जहॉ विशिष्ट इन्द्रियविषय हैं, उसका वर्णन करने-वाला सूत्र कहते हैं -

आसक्ति नही सहनशीलता धारण कर

(अनुष्टुप् छन्द)

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्ति विनाशये।।१६१।।

अर्थ — हे भिक्षुक मुने! तेरे जो विषयभोगो मे ही चाह है तो थोड़ा सहिष्णु बन। ये भोग स्वर्ग मे हैं। रे मूर्ख! पकते भोजन को प्रत्यक्ष देखकर भी तू जलादिक पेय पीकर ही क्यो भोजन का नाश करता है ?

भावार्थ — जैसे कोई भूखा मूर्ख पकते हुए भोजन को प्रत्यक्ष देखकर भी जितने समय मे भोजन पके उतने समय के लिये भी धैर्य नही धरता, भूख नही सहता और जलादिक पीकर ही भोजन का नाश कर लेता है, वैसे ही तू विषयो का अभिलाषी मूर्ख धर्मसाधन से कुछ ही काल मे स्वर्ग की प्राप्ति होकर वहॉ विशेष विषय मिलेगे, इस पर विचार तो कर। यह मनुष्यायु पूर्ण होने पर स्वर्ग मिलेगा, तब तक तू धैर्य नही धारता, इतने से समय के लिए भी चाह को नही सहता। और यहॉ सदोष भोजनादिक विषयो का सेवन कर स्वर्ग के सुख का भी नाश करता है, सो ऐसा कार्य तू क्यो करता है ? मत कर। यदि भोगो की ही इच्छा है तो कुछ काल के लिए धैर्य धारण कर, धर्मसाधन कर, तुझे स्वर्ग मे बहुत विषय-सुख मिलेगे। (यद्यपि विषयाभिलाषा ठीक नही है फिर भी भ्रष्ट होते जीव को लोभ दिखाकर टोका है, स्थिर किया है, ऐसा भाव जानना।)

कर्म से इन्द्रियसुख और जीवन ये दो कार्य उत्पन्न होते हैं। कर्म मुनियो का क्या करते हैं ? यह दर्शाने-वाले 'निर्धनत्व ..' इत्यादि श्लोक कहते हैं -

कर्म ज्ञानियो का कुछ नही कर सकते

(अनुष्टुप् छन्द)

निर्धनत्वं धनं येषां, मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां, सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्।।१६२।।

अर्थ — जिनके निर्धनपना ही तो धन है और मरना ही जीवन है, ऐसे जो सन्त पुरुष - जिनके ज्ञान ही एकमात्र नेत्र हैं, उनका विधाता कर्म क्या कर सकता है अर्थात् कुछ भी नही कर सकता।

भावार्थ — जो महामुनि ज्ञाननेत्र से पदार्थों का यथार्थ अवलोकन करते है उनके धनादिक रहित निर्ग्रन्थपना ही धन है। जैसे अन्य जीव धन से सुखी होते हैं वैसे ही ये मुनि निर्ग्रन्थपने से सुखी होते हैं। मृत्यु ही उनका जीवन है। जैसे अन्य जीव प्राण धारण करने से सुखी होते हैं, वैसे ही मुनि इन्द्रियादिक प्राण छूटने पर सुख मानते हैं। ऐसे मुनियो का कर्म क्या कर सकते हैं ? कर्म का बल तो इतना ही है – अनिष्ट रूप प्रवर्ते तो निर्धनत्व प्राप्त होवे या मृत्यु हो जावे सो इन दोनो से तो मुनि दु:खी होते नही। अत कर्म इनका कुछ भी कर सकने मे समर्थ नही हैं।

विधाता - कर्म अपने कार्य को कहॉ करते हैं, सो कहते हैं -

कर्म आशारहित जीवो का कुछ नही कर सकते

(अनुष्टुप् छन्द)

जीविताशा धनाशा च येषा तेषा विधिर्विधि ।
किं करोति विधिस्तेषा येषामाशानिराशता।।१६३।।

अर्थ — जिन (जीवो) के जीने की आशा है और धन (प्राप्ति) की आशा है उनके लिए कर्म विधाता है। जिनके आशा ही नष्ट हो चुकी है उनका कर्म क्या करे ? अर्थात् कुछ नही कर सकते।

भावार्थ — यहॉ विधाता नाम कर्म का है। जो अज्ञानी प्राप्त पर्याय रूप मे जीवन चाहते हैं और धन चाहते हैं, उनके ये कर्म अपना कार्य करने मे समर्थ होकर कर्मत्व को धारण करते हैं। ऐसे जीव कर्मों से डरते है कि हमारी मृत्यु न हो। हमारे निर्धनपना न हो। ऐसी आशा से कर्म उनको दु खी करते हैं। किन्तु जिनके आशा ही नष्ट हो गई, प्राप्त धनादिक को भी जो छोड़ बैठे और मृत्यु के कारणो के सम्मुख हुए, उनका कर्म कुछ नही कर सकते है। ऐसे मुनि कर्मो से भयभीत नही होते, मरण हो तो भले ही हो, पर्याय छोड़ने का भय नही। निर्धनपने को तो निराकुलता का कारण जानकर स्वेच्छा से ही धनादिक का परित्याग किया है। इस प्रकार जिन्होने आशा ही छोड़ दी है[१] उनको कर्म कैसे दु:खी करे ? मोहहीन होने पर कर्म का उदय होना, न होना समान ही है। तब वे आत्मा को दु:खी करने रूप कार्य के कर्त्ता नही होते।

कोई तो विशाल राज्य को छोड़कर आशा के नाश का अवलम्बन लेता है और कोई तप छोड़कर राज्य को अंगीकार करता है, इनकी फलप्राप्ति को दिखाने-वाले 'परां .' इत्यादि दो श्लोक कहते हैं -

---

१ आशाया ये दासा , ते दासा सर्वलोकस्य। आशा येषा दासी, तेषा दासायते लोक ।।

कौन स्तुत्य है और कौन निन्द्य ?

(अनुष्टुप् छन्द)

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया॥१६४॥

अर्थ — स्तुति और निन्दा इनके सर्वोत्कृष्ट भाग को ये दो जीव ही प्राप्त करते हैं - एक तो वह जो तपस्या करने के लिए चक्र (चक्रवर्तीपने) को छोड़ता है और एक वह जो विषयो की आशा करके तपस्या को छोड़ देता है।

भावार्थ — इस लोक मे कोई स्तुति योग्य है और कोई निन्दा योग्य। इन सबमें जो चक्रवर्ती पद का परित्याग कर मुनि पद अंगीकार करता है वह तो सर्वोत्कृष्टपने स्तुति करने योग्य है क्योकि चक्रवर्ती की प्राप्त सम्पदा को छोडकर वह मुनिधर्म रूप दुर्द्धर अनुष्ठान का आचरण करता है। अत इसकी महिमा सर्वोत्कृष्ट रूप से स्तुत्य है। पुनश्च, जो ग्रहण किये हुए मुनिपद को छोड़कर विषयो की इच्छा से राज्यपद को अंगीकार करता है वह सबसे अधिक निन्दा करने योग्य है। क्योकि छोटी-सी प्रतिज्ञा का भग करने पर भी निन्दा होती है, इसने तो मुनिपद धारण कर उसे भग किया है। अत इसका भ्रष्टपना उत्कृष्ट रूप से निन्दनीय है। यहाँ कोई कहे कि निन्दा करनी तो उचित नही है। उसे उत्तर देते है - ईर्ष्या से द्वेषबुद्धि पूर्वक निन्दा करनी उचित नही है, पापाचरण को प्रकट कर उसे बुरा बताने के लिए निन्दा करने मे कोई दोष नही है। यदि ऐसा न हो तो पापी जीवो की निन्दा शास्त्रो मे क्यो की जाती है।

तपस्या का त्याग आश्चर्य पैदा करने-वाला है

(हरिणी छन्द)

त्यजतु तपसे चक्र चक्री यतस्तपस. फल,
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम्।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मक,
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तु जहाति महत्तप.॥१६५॥

अर्थ — यदि चक्रवर्ती तपश्चरण के लिए चक्रवर्तीपने को छोड़ता है तो (भले ही) छोड़ो क्योकि तपस्या का फल अनौपम्य आत्मजनित शाश्वत सुख होता है। अत यह कार्य नो आश्चर्यजनक नही है परन्तु इस लोक मे यह बड़ा आश्चर्य है कि सुबुद्धिपूर्वक छोड़े हुए विषय रूप विष को पुन· भोगने के लिए बड़ी तपस्या को भी छोड़ बैठते है।

भावार्थ — लोक के अधिक सुख पाने के लिए किञ्चित् (थोड़े, तुच्छ) सुख को छोड़ा जाता है। इसका बड़ा आश्चर्य नही। किन्तु सर्वथा दुःखदायक विष को छोड़कर भी पुन उसका भक्षण

करने के लिए बड़े पद को छोड़ना - इसका बड़ा आश्चर्य है। मोक्षसुख के लिए चक्रवर्ती पद को छोड़ने का क्या आश्चर्य है। जो सर्वथा दु:खदायक विषयो को छोड़कर पुन उनके भोग के लिए त्रिलोकपूज्य मुनिपद को छोड़ता है, यह बड़ा आश्चर्य है। ऐसा अनर्थ कैसे सम्भव होता है ?

तप का त्याग करने वालो के प्रति और भी आश्चर्य व्यक्त करने-वाला सूत्र कहते हैं -

तत्पश्चरण से स्वयमेव पतन आश्चर्यकारी है

(वसन्ततिलका छन्द)

शय्यातलादपि तुकोऽपि भयं प्रपातात्,
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम्।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्,
धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति।।१६६।।

अर्थ — तुक यानी बालक भी स्वयं के पीड़ा होती देखकर ऊँचे शय्यातल से गिरने से डरता है। किन्तु यह निश्चय करने मे बड़ा आश्चर्य है कि बुद्धिमान् पुरुष तीन लोक के शिखर समान अतिशय ऊँचे तप से स्वयं गिरने मे नही डरता है।

भावार्थ — बालक विचार रहित होता है वह भी जरा-सी ऊँची शय्या से गिरने मे भयभीत होता है। उसको भी इतना विचार है कि जो यहाँ से गिर पड़ा तो मेरे पीड़ा उत्पन्न होगी। फिर जो यह मुनिलिग का धारी है वह तो विचारवान् है। तप तो तीन लोक के शिखर के समान ऊँचा है क्योकि तीनो लोको के जीव तप को पूज्य मानते है। इसलिए इसे ऊँचा जानना। सो इस (तप) से भ्रष्ट होने मे भी भयभीत नही होता, स्वयं ही भ्रष्ट होता है, इतना भी विचार नही करता कि इससे भ्रष्ट होने पर मुझे इस लोक मे हास्यादिक पीड़ा भोगनी पड़ेगी और परलोक मे चिरकाल पर्यन्त नरकादिक, निगोदादि के दु ख भोगने पड़ेगे। यही बड़ा आश्चर्य है। अहो! लोक मे तो ऊँचा पद पाकर बाद मे पराधीनपने भी नीचा होने पर इतनी लज्जा होती है कि वहाँ जीव अपघातादिक करने का विचार करता है। यही ऐसा निर्लज्ज हुआ है कि मुनि पद सदृश ऊँचा पद पाकर आप ही स्वच्छन्द होकर भ्रष्ट हुआ नीचा बना है। ऐसा असम्भव कार्य देखकर कैसे आश्चर्य न हो ? यहाँ आश्चर्य कहने से यही भाव है, भ्रष्ट मुनि लोकरीति का उल्लघन कर निन्दा का पात्र बना है।

जिस तपस्या से महापाप भी धुल जाते हैं उस तप को भी नीच पुरुष मलिन कर देते हैं, इस आशय का कथन करते है -

निन्द्यजीव तप को भी मलिन करते है

(अनुष्टुप् छन्द)

विशुध्यति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोऽपरः।।१६७।।

अर्थ — तपश्चरण से सर्व किया हुआ दुराचार भी निश्चय से शुद्ध हो जाता है, दूर हो जाता है। जैनमत से बाह्य ऐसे सर्व निकृष्ट, निन्द्य जीव उस तप को भी मलिन करते है।

भावार्थ — जैसे जल से मल धोया जाता है। यदि कोई धोने के कारणरूप जल ही में मल मिलावे तो उसे नीच कहा जाएगा। वैसे ही तप से सब पाप दूर होते हैं। बहुत पापी भी हो और तप करे तो पाप को दूर कर सकता है। पर जो पाप दूर करने के कारण तप मे ही पाप लगावे तो वह सर्वोत्कृष्ट (जघन्यतम) नीच है। अभिप्राय यह है कि जो पाप ही करता रहे तो वह तो नीच ही है परन्तु जो पाप मिटाने के लिए मुनिलिग धारण करे और उसमे दोष लगावे वह तो उत्कृष्ट (निकृष्ट) नीच है। सो अन्यत्र भी ऐसा न्याय किया है। अन्य स्थान मे किया गया पाप तो धर्मस्थान मे दूर हो जाता है परन्तु धर्मस्थान मे किया गया पाप कहाँ दूर हो, वह तो वज्रलेप हो जाता है। गृहस्थ-पद मे उत्पन्न हुए पाप मुनिपद मे दूर हो जाते है परन्तु मुनिपद मे किये गये पाप कहॉ दूर होगे, वज्रलेप हो जायेगे। ऐसा निश्चय कर मुनिपद मे दोष लगाना योग्य नही है।

आश्चर्य के अनेक कारण हैं। उनमे तप का त्याग करने-वाले के अति आश्चर्यपने के कारण को दिखाने-वाला सूत्र कहते हैं -

आश्चर्यजनक दो कार्य

(वसन्ततिलका छन्द)

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किन्तु,
विस्मापक तदलमेतदिह द्वयं न·।
पीत्वाऽमृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः।
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति।।१६८।।

अर्थ — तीनो लोको मे कौतूहल के सैकड़ो कारण हैं परन्तु इनमे हमको तो ये दो ही कार्य अधिक आश्चर्य उत्पन्न करते है - एक तो भाग्यहीन पुरुष अमृत पीकर उसका वमन करे और दूसरा वह जो संयमरूपी निधि को पाकर भी उसे छोड़ दे।

भावार्थ — जहॉ कोई असम्भव कार्य होता दिखाई दे वहॉ आश्चर्य माना जाता है। सो लोगो को तो अनेक कौतुकरूप कार्य आश्चर्य उत्पन्न करते हैं, परन्तु हमे तो इन दो कार्यों का ही आश्चर्य है। किसी ने बड़े भाग्य से, जिससे बुढापा आदि रोग न हों ऐसे अमृत का पान किया। पान करके वह उसका वमन करे तो एक तो यह सबसे बड़ा आश्चर्य है और किसी ने काललब्धि से-जिससे जन्म-मरणादिक दु ख का नाश हो ऐसी सयमरूप निधि को ग्रहण किया, फिर उसको छोड़े तो यह दूसरा बड़ा आश्चर्य है। ऐसे दो आश्चर्य कहे। यहॉ पहला तो दृष्टान्त रूप है दूसरा दार्ष्टान्त रूप जानना चाहिए। जैसे अमृतपान कर उसका वमन कग्ना वैसे ही सयम ग्रहण कर उसको त्यागना विपरीत कार्य है। अत ऐसा कार्य विवेकी को नही करना चाहिए।

उस पूर्वोक्त कारण से संयमनिधि को नही छोड़ते हुए विवेकी जीव सर्व परिग्रह का त्याग कर रागादिक का नाश करने के लिए प्रयत्न करो-ऐसी शिक्षा देने-वाला सूत्र कहते हैं -

अन्तरङ्ग शत्रुओं का नाश कर आत्मरक्षा कर

(मालिनी छन्द)

इह विनिहत बह्वारम्भबाह्योरुशत्रो -
रुपचितनिजशक्तेर्नापर कोऽप्यपायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधान ,
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः।।१६९।।

अर्थ — इस मुनिपद मे तूने बहुत आरम्भादि पापकर्म रूप बाह्य शत्रुओ को नष्ट किया है और अपनी शक्ति एकत्र की है। अब तेरे अन्य कोई विघ्न करने-वाला कष्ट है नही, अत· अन्तरङ्ग शत्रुओ के नाश करने का अभिलाषी होकर भोजन करना, सोना, चलना, ठहरना आदि क्रियाओ मे सावधान होकर तू अपनी रक्षा कर।

भावार्थ — राजाओं के दो प्रकार के शत्रु होते हैं एक तो बहिरङ्ग, दूसरे अन्तरङ्ग। जो अन्य राजादिक हैं, अपने स्थान से बाह्य मे प्रकट वैरी हैं, वे तो बहिरङ्ग शत्रु हैं और जो स्वय के खान-पानादिक के साधक सेवक आदि अपने समीप रहते है वे गुप्तवैरी हैं, वे अन्तरङ्ग शत्रु हैं। जो राजा बहिरङ्ग शत्रुओ का नाश कर देता है उसके राजभ्रष्ट होने का कोई कारण शेष नही रहता परन्तु यदि खान-पानादि क्रियाओ मे सावधानी से प्रवृत्ति करे तो अन्तरङ्ग शत्रुओ द्वारा भी मृत्यु को न प्राप्त करे। इसलिए अन्तरङ्ग शत्रुओ से भी जैसे अपनी रक्षा हो सके वैसे ही खान-पानादि क्रियाओ मे भी सावधान रहना योग्य है। ऐसे ही मुनियो के भी दो प्रकार के शत्रु है। एक तो बहिरङ्ग और दूसरे अन्तरङ्ग। मुनिलिङ्ग से बाह्य प्रकट विपरीत दिखने-वाले हिंसादिरूप आरम्भादिक तो बहिरङ्ग शत्रु हैं और खान-पानादि क्रियाओ मे रागादिक प्रमाद रूप गुप्त, विपरीत भाव अन्तरङ्ग शत्रु हैं। जो मुनि बहिरङ्ग आरम्भादिक का त्याग करता है उसके मुनिपद से भ्रष्ट होने का बाह्य कारण रहा नही परन्तु जो खान-पानादि क्रियाओ मे प्रमादी होकर सावधानी से प्रवृत्ति न करे तो अन्तरङ्ग रागादि भावो से मुनिपद का नाश हो सकता है। अत अन्तरङ्ग रागादि शत्रुओ से भी जैसे अपने मुनिपद की रक्षा हो सके, वैसे खान-पानादि क्रियाओ मे सावधानी रखना योग्य है। यहाँ अभिप्राय यह है कि बाह्य आरम्भादिक का त्याग करके ही निश्चिन्त मत हो जाना, मुनिलिङ्ग मे खान-पानादि क्रियाये रही हैं वहाँ भी रागादिक नही करना।

मन को रोकने से आत्मा की रक्षा होती है और रागादि का नाश होता है, अतः मन को रोकना योग्य है, ऐसा कहते हैं -

मनरूपी मर्कट को शास्त्र रूपी वृक्ष पर रमाओ
(शिखरिणी छन्द)

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते,
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं,
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम्।।१७०।।

अर्थ — बुद्धिमान् ! इस मनरूपी बन्दर को सदा काल शास्त्ररूपी वृक्ष मे रमाओ। कैसा है यह शास्त्ररूपी वृक्ष ? अनेकान्त स्वरूप अर्थरूपी फूल-फलो के भार से नम्रीभूत है। वचनरूपी पत्रो से व्याप्त है। विस्तीर्ण नय रूपी सैकड़ो शाखाओ से संयुक्त है। भले प्रकार ऊँचा है। सम्यक् विस्तार लिये मतिज्ञान उसका मूल है।

भावार्थ — कोई कहता है कि मन तो बन्दर समान चचल है सो सावधानी रखने पर भी रागादिक रूप परिणमता है, इसका क्या करे ? उसको शिक्षा देते है - यदि बन्दर ठाला रहे तब तो कुछ-न-कुछ बिगाड़ करे-ही-करे। इसलिए उसको वृक्ष मे रमा दो तो फिर अपना बिगाड़ न करे और वह भी प्रसन्न रहे। इसी प्रकार यदि मन निरालम्ब रहे तब तो रागादि रूप प्रवर्त्ते-ही-प्रवर्त्ते। इसलिए इसको शास्त्राभ्यास मे लगा दो ताकि यह रागादि रूप न प्रवर्त्ते और प्रसन्न भी रहे। यहाँ बाह्य शास्त्रो का पठन-पाठन करने को ही शास्त्राभ्यास जानना। शास्त्र के अनुसार स्वरूप-ध्यानादिक का करना वह भी शास्त्राभ्यास ही है। इसलिए शुक्लध्यान मे भी वितर्क सहित ध्यान कहा। वितर्क नाम श्रुत का कहा गया है अत जब तक केवलज्ञान न हो तब तक शास्त्रो मे ही मन लगाने पर रागादिक हीन होते है। सो यही शास्त्र मन रूपी बन्दर को रमाने के लिए वृक्ष के समान कहा है। वृक्ष मे सारभूत फल होते हैं। उनके भार से वह नम जाता है। शास्त्र मे भी सारभूत स्याद्वादरूपी अर्थ पाया जाता है उसके बाहुल्य से वह ग्राह्य होता है। वृक्ष मे पत्ते होते हैं, उनसे उसकी शोभा होती है। शास्त्र मे युक्ति लिये हुए वचन पाये जाते हैं, उससे उसकी शोभा है। वृक्ष मे शाखा होती है जिसके आश्रय से पत्ते, फल और फूल होते हैं। शास्त्र में भी अनेक नय है, उनके आश्रय से वचन-रचना अथवा अर्थ-निरूपण किया जाता है। वृक्ष ऊँचा सुशोभित होता है। शास्त्र भी त्रिलोकपूज्य ऊँचा शोभित होता है। वृक्ष के विस्तार रूप जड़ होती है, वही कारणभूत है। शास्त्र मे विस्तार लिये बुद्धि होती है अथवा मतिज्ञान कारणभूत होता है। ऐसे वृक्ष के समान शास्त्र मे अपने मन मर्कट को रमाओ।

शास्त्र मे मन को रमाने-वाला जीव इस प्रकार तत्त्व को भावे, सो कहते हैं -

श्रुतज्ञान मे मन लगाकर क्या चिन्तन करे ?

(अनुष्टुप् छन्द)

तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा।।१७१।।

अर्थ – समस्त तत्त्वो को जानने-वाला ज्ञानी अनादिनिधन समस्त जीवादि तत्त्वो का इस प्रकार चिन्तन करता है कि एक ही वस्तु उसके विवक्षित स्वरूप को और उससे प्रतिपक्षी स्वरूप को प्राप्त करते हुए भी नाश को प्राप्त नही होती है।

भावार्थ – शास्त्राभ्यास करने-वाला ज्ञानी केवल शब्दो या अलकारो मे ही अपने मन को नही रमाता है अपितु वस्तुस्वरूप का चिन्तन करता है। एक कोई जीवादिक वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। सत्ता रूप भी है और असत्ता रूप भी है। एक भी है और अनेक भी है। इत्यादि उस रूप है और उस रूप नही भी है। सो ऐसे भाव को प्राप्त होने-वाली जीवादिक वस्तु नाश को नही प्राप्त होती अपितु अपने स्वभाव रूप रहती है। अनादिनिधन समस्त जीवादिक पदार्थ ऐसे ही पाये जाते है। शास्त्रद्वार से तत्त्वज्ञानी जीव इसी प्रकार का चिन्तन करते हैं। ऐसे चिन्तन से वस्तुस्वरूप की प्रतीति होती है और सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति होने से जीव अपना कल्याण करता है।

'ऐसा ज्ञान तो भ्रमरूप होगा' ऐसी आशंका का निराकरण करने-वाला सूत्र कहते हैं -

प्रत्येक वस्तु एक ही काल मे ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय सहित होती है

(अनुष्टुप् छन्द)

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः।।१७२।।

अर्थ – एक ही वस्तु एक ही काल मे ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय इन तीनो स्वरूप है। यहाँ हेतु कहते हैं - प्रमाण से अखण्डित ऐसी जो यह अन्य है, ऐसी प्रतीति और यह वही है ऐसी प्रतीति - इन दोनो की अन्यथा असिद्धि है।

भावार्थ – जो एक ही अपेक्षा वस्तु को उस रूप भी कहे और उस रूप नही भी कहे तो भ्रम ही है। अन्य अपेक्षा से कहे तो कोई विरोध नही जैसे पुरुष को एक ही पुरुष का पिता भी कहे और पुत्र भी कहे तो भ्रम ही है। अन्य का पिता और अन्य का पुत्र कहे तो विरोध नही रहता। वस्तु अपने स्वरूप मे है। यहाँ एक ही वस्तु को नित्य-अनित्य दोनो कहा, उसका उदाहरण कहते हैं - कोई एक पुरुष रंक था, फिर वह राजा हो गया, अवस्था पलटने की अपेक्षा पहले रंक था, अब राजा हो गया, ऐसा अन्यपना भासित होता है। इसलिए यह अन्य है, ऐसा माना जाता है। परन्तु मनुष्यपने की अपेक्षा पहले भी मनुष्य था और अब भी वही मनुष्य है, ऐसा एकपना भासित होता

है अत· यह वही है, ऐसा मानते हैं। सो ऐसी प्रतीति प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित नही होती। जो ऐसे ही वस्तु स्वरूप की प्रतीति करता है वही पुरुष एक काल मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने को धारण करता है। जिस समय रक से राजा हुआ उसी एक समय मे राजापने का तो उत्पाद है, रकपने का व्यय है और मनुष्यपना ध्रौव्य है। ऐसे ही कोई जीव मनुष्य से देव हो गया, वहाँ मनुष्यपने की अपेक्षा देवपना अन्य है, इसलिए अन्यपने की प्रतीति होती है। जीवपने की अपेक्षा यह वही है, ऐसी प्रतीति की जाती है। मनुष्य से देव होने के समय मे देवपने का उत्पाद, मनुष्यपने का व्यय और जीवपना ध्रौव्य, ऐसे एक ही वस्तु एक काल मे तीनो भाव धारण करती हुई पाई जाती है। इसी प्रकार सर्व जीवादिक वस्तुये एक समय मे स्थूल पर्यायो से या सूक्ष्म पर्यायो से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने को धारण करती है। अत एक ही वस्तु मे नित्यपना-अनित्यपना सिद्ध हो गया। ऐसे ही स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सत्तापना और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्तिपना मानना। एक ही पुरुष का यह द्रव्य सो पुरुष है, यह द्रव्य पुरुष नही है, वही पुरुष इस क्षेत्र मे है, इस क्षेत्र मे नही है, इस काल मे है, इस काल मे नही है, ऐसे स्वरूपमय है, ऐसे स्वरूपमय नही है, ऐसा मानते हैं। इसलिए एक ही वस्तु एक साथ सत्ता-असत्तारूप है। अंशी की अपेक्षा से एक है और अंशो की अपेक्षा अनेक मानना। एक ही पुरुष को सर्व शरीर की अपेक्षा से एक भी कहते हैं और हस्त-पादादि की अपेक्षा अनेक रूप भी मानते हैं। अत. (सिद्ध है कि) एक ही वस्तु एक साथ एक-अनेकरूप हैं। ऐसे ही उस रूप हैं और उस रूप नही भी है। ऐसा तत्त्व प्रतीति मे आता है अत यथायोग्य शास्त्रद्वार से प्रमाण के अविरुद्ध अपेक्षा से सम्यग्ज्ञानी जीव वैसे ही विचार करता है।

यहाँ कोई तर्क करता है कि वस्तु के ध्रौव्यादि तीन स्वरूपपना असिद्ध है। वस्तु के सर्वथा नित्यादि एक-एक स्वरूपपना ही पाया जाता है। इस आशंका को दूर करने-वाला सूत्र कहते है -

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है

(वसन्ततिलका छन्द)

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्र,
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात् ।
तत्त्व प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप-
माद्यन्तहीनमखिल च तथा यथैकम्।।१७३।।

अर्थ — वस्तु न तो सर्वथा स्थिर नित्य ही है, न क्षण विनश्वर ही है, न ज्ञानमात्र ही है और न अभाव स्वरूप ही है। इसलिए अखण्डित प्रतीति का निरोध है। अविरुद्धपने से ऐसा प्रतीत नही होता। इसलिए वस्तु समय-समय पर उस रूप भी है और उस रूप नही भी है। ऐसा ही अनादिनिधन स्वभाव है। अत जैसे एक पदार्थ ऐसा प्रतीत होता है वैसे ही सर्व पदार्थ जानने चाहिए।

भावार्थ — वस्तु का स्वरूप सर्वथा एकरूप नही है। नाना अपेक्षाओ से नानारूप है। साख्य, नैयायिक आदि मत वाले वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानते हैं। बौद्धमती क्षणविनश्वर ही मानते हैं। कोई बौद्धमती ज्ञानाद्वैतवादी एक ज्ञान ही है, बाह्य कोई वस्तु नही है, ऐसा मानते हैं। कोई बौद्धमती शून्यवादी सर्व वस्तु का अभाव मानते हैं। इस प्रकार एकान्त रूप वस्तु को मानते हैं। सो ऐसा है नही। विचार करने पर ऐसे एकान्त मे विरोध भासित होता है। वस्तु को सर्वथा क्षणविनश्वर कैसे माने ? ज्ञान भी भासित होता है, बाह्य पदार्थ भी भासित होता है। यदि बाह्य पदार्थ को न माने तो ज्ञान के प्रमाण-अप्रमाणरूप विभाग नही बनते इसलिए सर्वथा ज्ञानमात्र ही नही है। पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होता है, उसका अभाव माने, उसका उपदेश भी शब्द रूप पदार्थ है तो फिर वह भी अभाव रूप ही ठहरा। प्रत्यक्ष को मिथ्या कहे सो बनता नही। अत· पदार्थ सर्वथा अभाव रूप नही है। इस प्रकार वस्तु एकान्तरूप तो नही है। तो कैसी है ? उस रूप भी है और उस रूप नही भी है। सो बताते हैं - वस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य है और पर्याय पलटने की अपेक्षा क्षणविनश्वर है। ज्ञान मे भासने की अपेक्षा ज्ञानमात्र है। बाह्य वस्तु सत्तारूप है, उसकी अपेक्षा ज्ञानमात्र नही, बाह्य वस्तु भी है। पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे यह नास्ति है यानी उनकी अपेक्षा अभाव है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे अस्ति है, उनकी अपेक्षा अभाव नही है, सद्‌भाव है। इस प्रकार वस्तु का रूप अनादिनिधन अनेकान्तरूप है। इसे एक पदार्थ मे घटा कर देखो, जैसे - एक जीव चेतनात्वादि भावो की अपेक्षा नित्य भी है और नर-नरकादि पर्यायो की अपेक्षा अनित्य भी है। ज्ञान मे प्रतिभासित जीव का आकार सो ज्ञानमात्र भी है। जीव अपना अस्तित्व लिये पदार्थ भी है और पुद्‌गलादि के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जीव का अभाव भी है। जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जीव का सद्‌भाव भी है। ऐसे ही अनेकान्तरूप जैसे जीव एक पदार्थ है वैसे ही सर्व पदार्थ अनादिनिधन अनेक अपेक्षाओ से उस रूप भी है और उस रूप नही भी है। पुनश्च, जैसा (पदार्थ) है वैसा ही मानने पर सम्यग्ज्ञान होता है। इसलिए वैसे ही मानना योग्य है।

सभी वस्तुओ का जो ऐसा साधारण - समान स्वरूप है तो आत्मा का असाधारण स्वरूप कैसा है, जिसकी भावना करने पर आत्मा की मुक्ति सधे ? ऐसा पूछने पर कहते है -

आत्मा का असाधारण स्वरूप

(अनुष्टुप् छन्द)

ज्ञानस्वभाव स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्।।१७४।।

अर्थ — आत्मा का ज्ञान स्वभाव है और स्वभाव की प्राप्ति विनाशरहित है। इसलिए अविनाशी अवस्था को चाहने-वाले विवेकी को ज्ञान भावना भानी चाहिए।

भावार्थ — पूर्व मे जो नित्य-अनित्यादि धर्म बताये हैं वे तो सभी वस्तुओ मे समान रूप

साधारण हैं। परन्तु जो यह ज्ञान है, जानना है सो आत्मा मे ही पाया जाता है। यह आत्मा का असाधारण स्वभाव है। इसी लक्षण से परद्रव्यों से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का निश्चय होता है। यह नियम है कि वस्तु का अस्तित्व रहते उसके स्वभाव का अभाव नही होता, क्योकि लक्षण का नाश होने पर लक्ष्य का अस्तित्व कैसे रहे ? जैसे जो पुरुष अपने धन का ही धनी होकर प्रवर्त्ते, उसकी एक-सी दशा रहे, जो दूसरे के धन का धनी होय प्रवृत्ति करे उसकी एक दशा रहती नही, वैसे ही आत्मा का स्वभाव ज्ञान है अत· जीव अपने ज्ञान का ही स्वामी होकर प्रवृत्ति करता है। ये (अन्य) पदार्थ जैसे परिणमते हैं वैसे परिणमन करते रहे, मै इनका जानने-वाला ही हूँ, ऐसी भावना रखे तो उसके अविनाशी अवस्था बने। क्योकि ज्ञान तो इसका स्वभाव, उसका तो अभाव होता नही और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावो का यह स्वामी होता नही तो फिर इसकी अवस्था कैसे पलटे ? और जो जीव पर-द्रव्यो के स्वभावो का स्वामी होकर प्रवृत्ति करे, शरीर, धन, स्त्री, पुत्रादिक जो अपने स्वभाव रूप परिणमन करते हैं उनको अपना जाने, उसके अविनाशी अवस्था रहती नही क्योकि शरीरादिक की अवस्था एकरूप रहती नही तब यह (जीव) भी उनकी अवस्था पलटने पर अपनी अवस्था को पलटा हुआ मानता है तब अविनाशीपना कैसे रहे ? इसलिए जो विवेकी अविनाशी अवस्था को (प्राप्त करना) चाहते हैं, उन्हे एक ज्ञानभावना भी भानी चाहिए।

आगे प्रश्न - पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क भेद वाला शुक्लध्यान स्वरूप तो श्रुतज्ञान है, उस ज्ञान की भावना करने का फल क्या होता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

ज्ञान का फल अविनाशी ज्ञान है

(अनुष्टुप् छन्द)

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते।।१७५।।

अर्थ — निश्चय से तो ज्ञान मे ज्ञान ही फल है सो सर्वथा सराहने योग्य है। वह ज्ञान अविनाशी है। जो यहाँ अन्य कुछ फल देखा जाता है वह बड़ा आश्चर्य है, यह मोह की महिमा जानना।

भावार्थ — श्रुतज्ञान से पदार्थों को यथार्थ जाना जाता है। उसका तत्काल फल तो पदार्थो का ज्ञान होना ही है। परम्परा से उसका फल केवलज्ञान है जिसमे सर्व पदार्थो का ज्ञान होता है। ऐसे ज्ञान का फल ज्ञान ही है। यह सर्व प्रकार से प्रशसनीय है। क्योकि यथार्थ ज्ञान होने पर पदार्थ जैसे हैं वैसे ही भासते हैं, तब निराकुलता रहती है। निराकुलता सुख का लक्षण है। सब सुख चाहते हैं। इस सुख मे पराधीनता आदि कोई दोष नही है। जो यह विषयसामग्री रूप फल की चाह है वह तो मोह की महिमा है। जैसे खुजली रोग होने पर खुजाने की सामग्री अच्छी लगती है वैसे ही मोह से आत्मा के काम-क्रोधादि भाव होते हैं तब इसे स्त्री, शस्त्रादिक सामग्री भली प्रतीत होती है। यह उनकी कामना करता है। ज्ञानी मनुष्य को ज्ञान के अतिरिक्त अन्य फल की इच्छा करना -

आश्चर्यजनक लगता है। जैसे भूत लगे पुरुष की चेष्टायें देखकर आश्चर्य होता है वैसे ही मोही जीवों की चेष्टा का भी ज्ञानी को आश्चर्य होता है।

श्रुतज्ञान की भावना मे प्रवृत्ति करने-वाले भव्य और अभव्य जीवों को क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं -

ज्ञानसयुक्त भव्य और अभव्य की दशा

(अनुष्टुप् छन्द)

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो, मली वा भस्म वा भवेत्।।१७६।।

अर्थ — शास्त्ररूपी अग्नि मे भव्य जीव तो सच्चे पुष्पराग रत्न के समान मल रहित होकर विशुद्ध निर्मल सुशोभित होता है और दुष्ट अभव्य अंगारे के समान प्रकाशमान होते हुए भी मलसंयुक्त या भस्मरूप रहता है।

भावार्थ — जैसे पद्मरागमणि है वह तो अग्नि मे, लगे हुए मल का नाश होने से शुद्ध भाव रूप होकर शोभायमान होता है और ईंधन का अगारा है सो अग्नि मे प्रकाशमान तो होता है परन्तु या तो कोयलारूप मैला होता है या राखरूप भस्म होता है। वैसे ही धर्मात्मा भव्य जीव तो शास्त्रो का अभ्यास कर लगे हुए अज्ञानरागादिक मल का नाश होने से सिद्धपद को प्राप्त कर शुद्ध स्वभावरूप परिणमित हुआ प्रशसनीय ही होता है और अधर्मी अभव्य जीव शास्त्रो का अभ्यास करके पदार्थों को जानने-वाले के रूप में प्रसिद्ध तो होता है परन्तु रागादि दोषो से मैला ही रहता है।

अब ध्यान की सामग्री को दर्शाने - वाला सूत्र कहते हैं -

ध्यान की सामग्री

(अनुष्टुप् छन्द)

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः।।१७७।।

अर्थ — आत्मा के अधिकार रूप अध्यात्म भाव को जानने-वाला मुनि बार-बार सम्यग्ज्ञान को फैला कर पदार्थ जैसे हैं उन्हे उसी रूप मे देखता हुआ रागद्वेष का निराकरण करके ध्यान करता है।

भावार्थ — आत्मज्ञानी जीव का ध्यान करता है। उसे पहले तो आगम अनुमानादिक रूप सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का निश्चय करना चाहिए फिर यथार्थ श्रद्धान करते हुए जिससे रागद्वेष न हों उस प्रकार बाह्य साधन या अन्तरंग विचार कर रागद्वेष का नाश करना चाहिए, ऐसी सामग्री (एकत्र) होने पर ध्यान की सिद्धि होती है। क्योंकि उपयोग की निश्चलता का नाम ध्यान है। अतः रागद्वेष होने पर द्रव्यों मे उपयोग भटकने पर ध्यान कैसे हो सकता है ? पदार्थों का

निश्चय हुए बिना पर-द्रव्य इष्ट-अनिष्ट भासित होता है तब रागद्वेष कैसे दूर हो सकते हैं ? अपने ज्ञान को पदार्थों के जानने मे लगाये बिना पदार्थों का निश्चय कैसे हो सकता है ? इसलिए ज्ञान का विस्तार कर पदार्थों का यथार्थ निश्चय करने के बाद रागद्वेष को समाप्त कर एक पदार्थ का यथार्थ ध्यान करते हुए अन्य सब प्रकार के चिन्तन को रोक कर जीव ध्यानावस्था को प्राप्त करता है। यह ध्यान साक्षात् मोक्षमार्ग है, इसके लिए भव्य जीवो को ऐसी सामग्री जुटानी योग्य है।

रागद्वेष का निराकरण कर किसलिए ध्यान करे ? ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं - संसार के कारण जो कर्म है, उनकी उत्पत्ति में रागद्वेष कारणभूत हैं। अत उनको नष्ट कर ध्यान करना चाहिए, वही कहते हैं -

रागादिक ससार भ्रमण के कारण है

(अनुष्टुप् छन्द)

वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिण.।।१७८।।

अर्थ — मथानी का अनुकरण करने-वाला उस जैसा यह प्राणी जब तक बॅधता और खुलता रहेगा तब तक ससार-समुद्र मे इसका गमन और आगमन होकर भ्रमण चलता रहेगा।

भावार्थ — जैसे मथानी मे रई होती है जब तक उसके रस्सी बॅधती और खुलती रहती है तब तक गमनागमन होने से उसके परिभ्रमण (घूमना) होता रहता है, वैसे ही ससार मे यह जीव है, उसके नए कर्मो का बॅधना और पूर्व कर्मों का उदय होकर खिरना जब तक होता रहेगा तब तक नरकादि पर्यायो मे गमनागमन होने से इसके परिभ्रमण चलता रहेगा। क्योकि पूर्वकर्मों के उदय से इसके रागादिक होता है और रागादिक से नवीन कर्म बॅधते हैं, इसलिए ससार मे भ्रमण का कारण रागादिक भावो को जानना चाहिए।

प्राणी के कर्म का खुलना है सो कोई तो भ्रमण का और नवीन बन्ध का कारण है, कोई नही है। यह दर्शाने-वाला सूत्र कहते हैं -

अविपाक निर्जरा अपेक्षित है

(अनुष्टुप् छन्द)

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम्।।१७९।।

अर्थ — रई के सदृश इस जीव के भी खुलते हुए पाश से भ्रमण और बन्ध होता है। सो यह पाश इस प्रकार खोलना है जिससे भ्रमण और बन्धन दोनो न हो।

भावार्थ — जैसे मथानी मे रई होती है, उसके रस्सी का फन्दा होता है। वह दो प्रकार से

खुलती है - एक तो इस प्रकार खुलती है कि जिससे नवीन बन्धन होता जाए और मथानी मे घूमती भी रहे। और एक इस प्रकार खुलती है कि जिससे नवीन बन्धन भी नही होता और मथानी मे घूमना भी नही होता, फन्दे से छूटना ही होता है। इसी प्रकार संसार में यह जीव कर्मों के फन्दे मे पड़ा है। इनकी निर्जरा दो प्रकार से होती है - एक तो निर्जरा ऐसी होती है कि जिससे नवीन कर्मों का बन्ध भी होता जाता है और संसार मे परिभ्रमण भी चलता रहता है और दूसरी निर्जरा ऐसी होती है जिससे नवीन बन्ध भी नही होते और ससार मे परिभ्रमण भी नही होता, कर्मों के फन्दे से मुक्ति हो जाती है। यहाँ ऐसा समझना - पूर्व बँधा हुआ कर्म काल पाकर अपना उदय रस (फल) देकर निर्जरित होता है तब सविपाक निर्जरा होती है। यह तो नवीन कर्मों के बन्धन का और ससार मे परिभ्रमण का कारण है। परन्तु जो पूर्व बँधा हुआ कर्म धर्मसाधन मे भी अनुराग नही होने से (कराकर) अपना फल दिये बिना ही निर्जरित होता है वहाँ अविपाक निर्जरा होती है। यह नवीन कर्मों के बन्धन का और ससार मे भ्रमण का कारण नही होती, अत. कर्म-फाँस की ऐसी ही अविपाक निर्जरा करनी चाहिए, जिससे बन्ध और भ्रमण न हो।

किससे बन्ध होता है और किससे बन्ध नही होता, सो कहते हैं -

बन्ध और मोक्ष के कारण

(आर्या छन्द)

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्ध. प्रवृयवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः।।१८०।।

अर्थ — रागद्वेष-भावो से की गई प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति से तो जीव के बन्ध होता है और तत्त्वज्ञान पूर्वक की गई प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति से मोक्ष देखा जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

भावार्थ — जिस रूप होकर आत्मा प्रवृत्त होता है उसे तो प्रवृत्ति समझना चाहिए और जिस रूप होकर आत्मा प्रवृत्त नही होता उसकी वहाँ अप्रवृत्ति जाननी चाहिए। मोह के उदय से रागद्वेष-भाव उत्पन्न होते हैं उनसे कदाचित् अशुभ कार्यों मे प्रवृत्ति होती है और शुभ कार्यों में अप्रवृत्ति होती है, कदाचित् (कभी) शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति होती है और अशुभ कार्यों मे अप्रवृत्ति होती है। सो ऐसी प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति से तो आत्मा के बन्ध होता है। किन्तु मोह का उदय क्षीण होने से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। उससे ज्ञानमात्र शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति होती है, शुभ और अशुभ भावो की अप्रवृत्ति होती है - इस प्रकार की प्रवृत्ति -अप्रवृत्ति से आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए ऐसा ही साधन करना योग्य है।

अब पूछते हैं कि पुण्य और पाप रूप बन्ध किससे उत्पन्न होते हैं ? इन दोनो का अभाव किससे होता है ? इसका उत्तर कहते हैं -

पुण्य-पाप रूप बन्ध और मोक्ष का कारण
(आर्या छन्द)

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्।।१८१।।

अर्थ — गुण और दोष मे क्रमशः द्वेष और अनुराग रूप बुद्धि निश्चय से पाप उत्पन्न करती है और इससे विपरीत गुणो मे अनुराग और दोषो में द्वेष रूप बुद्धि पुण्य पैदा करती है। इन दोनो - पुण्य और पाप - से रहित बुद्धि इन दोनो से - पाप-पुण्य रूप कर्मों से मोक्ष प्रदान करती है।

भावार्थ — बुद्धि नाम उपयोग का है। उपयोग तीन प्रकार का होता है - अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। जिससे आत्मा का भला हो उसका नाम गुण और जिससे बुरा हो उसका नाम दोष है। धर्म रूप भावो से आत्मा का भला होता है इसलिए धर्म को सूचित करने-वाला भाव तो गुण है और अधर्मरूप भावो से आत्मा का बुरा होता है अत धर्मविरोधीभाव दोष है। जिस जीव के तीव्रमोह के उदय से गुणों में द्वेष होता है और दोषो मे अनुराग होता है अथवा उसी अभिप्राय (मोह) से जिसमें गुण होते हैं या जो गुणो का कारण होता है उसमे द्वेष होता है और जिसमे दोष होता है या दोष का कारण होता है उसमे अनुराग होता है, उस जीव के अशुभोपयोग होता है। इससे पाप कर्म का बन्ध होता है।

जिस जीव के मन्द मोह के उदय से गुणो मे अनुराग होता है और दोषो मे द्वेष होता है अथवा उसी अभिप्राय से जिसमे गुण पाये जाते हैं या जो गुण का कारण होता है उसमे तो अनुराग हो और जिसमे दोष हो या जो दोष का कारण हो, उससे द्वेष हो, उस जीव के शुभोपयोग होता है। इससे पुण्य-कर्म का बन्ध होता है। यहॉ कोई प्रश्न करे कि द्वेषबुद्धि से पुण्यबन्ध कैसे होता है ? उसका समाधान कहते हैं - जो अपने कषाय का प्रयोजन लिये (कषायभाव से) द्वेष करता है वहॉ तो पापबन्ध ही है। परन्तु जैसे कोई पुरुष अपने मित्र के शत्रु मे द्वेष करता है, वैसे ही जो धर्म के विरोधियो मे द्वेष करता है वहॉ उसके अभिप्राय मे धर्म का अनुराग होता है इसलिए उसे पुण्य-बन्ध होता है। उदाहरण - सूअर और सिंह दोनो लड़े। सूअर तो मुनिरक्षा के अभिप्राय से मरकर पॉचवे स्वर्ग का देव हुआ और सिह मुनि को मारने के अभिप्राय से मरकर पॉचवें नरक मे गया। शास्त्रो में भी पापो की और पापी जीवों की निन्दा की गई है इसलिए कथंचित् द्वेष से भी पुण्यबन्ध होता है। इस प्रकार ये दोनो उपयोग रागद्वेषसहित प्रवृत्त होते हैं। इसलिए इनको अशुद्धोपयोग कहते हैं।

जिस जीव के मोह के अभाव से ऐसे दोनो प्रकार के रागद्वेष न हो उस जीव के शुद्धोपयोग होता है, इससे पुण्यकर्म और पापकर्म दोनों का ही नाश होता है, नवीन बन्ध नही होता और पूर्व मे बॅधे कर्मों की निर्जरा होती है। इस प्रकार उपयोग के तीन प्रकार हैं। वे ही पुण्य-पाप के बन्ध और उन दोनों के नाश के कारण हैं।

जो रागद्वेष पूर्वोक्त प्रकार से बन्ध के कारण हैं तो उनकी उत्पत्ति किससे होती है ? ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं -

रागद्वेष के कारण मोह को ज्ञान द्वारा नष्ट करना योग्य है

(अनुष्टुप् छन्द)

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधक्षुणा।।१८२।।

अर्थ — जैसे बीज से वृक्ष की जड़ और अकुर उत्पन्न होते है वैसे ही मोहरूपी मूल कारण से आत्मा के रागद्वेष होते हैं। इसलिए इन रागद्वेष को जो जीव दग्ध करना (नष्ट करना) चाहता है, उसे ज्ञानरूपी अग्नि से मोह को दग्ध करना ही योग्य है।

भावार्थ — अतत्त्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव का नाम मोह है। पदार्थो को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करना, इनका नाम रागद्वेष है। अतत्त्व श्रद्धान से ही पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होते है। इसलिए जैसे वृक्ष के जड़ और अकुर का मूल कारण बीज है वैसे ही रागद्वेष का मूल कारण मोह समझना चाहिए। जैसे कोई जड़ और अंकुर को दग्ध करना चाहे तो उसे उसके बीज को दग्ध करना चाहिए, उसी प्रकार जो रागद्वेष का नाश करना चाहता है उसे मोह का नाश करना चाहिए। मोह का नाश होने पर उनका नाश सहज ही हो जायेगा। सम्यग्दृष्टि के मोह का नाश होने पर कदाचित् रागद्वेष रहता भी है तो जैसे उखाड़े हुए वृक्ष की जड़ और अकुर कुछ समय तक रहते हैं परन्तु वे शीघ्र सूखेगे, उसी प्रकार (सम्यग्दृष्टि के) वे रागद्वेष शीघ्र नाश को प्राप्त होगे। परन्तु किसी मिथ्यादृष्टि के मोह का सद्भाव होने पर रागद्वेष थोड़े भी बाह्य मे प्रकट हो तो जैसे बीज के रहते जड़ अकुर थोड़े ही बाहर दीखे परन्तु वे शीघ्र बढेगे उसी प्रकार वे रागद्वेष शीघ्र वृद्धि को प्राप्त होगे। इसलिए रागद्वेष का मूल कारण मोह को ही जानकर उसी का नाश करना चाहिए। जैसे बीज को जलाने (नष्ट करने) का साधन अग्नि है, वैसे ही मोह के नाश का कारण ज्ञान है। ज्ञान से जीवादि तत्त्वो के स्वरूप को यथार्थ जाने तो अतत्त्व-श्रद्धान का नाश होता है इसलिए तत्त्वज्ञान के अभ्यास मे सदैव तत्पर रहना चाहिए। इतना करने पर सभी सिद्धियॉ स्वयमेव होती हैं।

रागद्वेष का बीजभूत मोह कैसा है इसके नाश मे क्या कारण है ? सो कहते हैं -

मोह का स्वरूप और उसके नाश मे कारण उपाय

(अनुष्टुप् छन्द)

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगति. सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुध्यति रोहति।।१८३।।

अर्थ — मोहरूपी गूमड़ा फोड़ा है सो कैसा है ? पुरातन है। फोड़ा तो काफी समय का हुआ है

और मोह अनादिकाल से हुआ है। और कैसा है ? ग्रहदोष से उत्पन्न हुआ है। फोड़ा तो मंगलादिक खोटे ग्रह आने पर उत्पन्न हुआ है और मोह परद्रव्य के ग्रहण रूप परिग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ है। और कैसा है ? गम्भीर है। फोड़ा तो गहरा होता है और मोह भी इतना बड़ा है कि इसकी थाह नही लगती। और कैसा है ? गति सहित है। फोड़ा तो राध - रुधिरादिक के गमन से युक्त है और मोह नरकादिक गति का सद्भाव लिये हुए है। और कैसा है ? पीड़ा सहित है। फोड़ा तो पीड़ा देता है और मोह आकुलता पैदा करता है। ऐसा मोहरूपी फोड़ा त्याग जात्यादिक से शुद्ध होता है और आरोग्य को प्राप्त होता है। फोड़ा तो रुधिरादि के छोड़ने और जात्यादि घृतादि के लगाने रूप उपायो से शुद्ध होता है और नवीन चमड़ी रूप आरोग्य को प्राप्त होता है। मोह भी परद्रव्यो को छोड़ने और निजजाति के ग्रहण करने रूप उपायो से शुद्ध होता है और सम्यक्त्व रूप आरोग्य को प्राप्त होता है।

भावार्थ – जैसे फोड़ा अपने ही शरीर मे उत्पन्न होकर भी अपने को ही दु खदायक है, वैसे ही मोह भी अपने ही अस्तित्व मे प्रकट होकर अपने को ही आकुलता उत्पन्न करता है। इसलिए उपाय करके इसका नाश करना ही योग्य है।

जो मोहरूपी फोड़े को शुद्ध करना चाहता है उस जीव को नाश को प्राप्त हुए कुटुम्बियो मे भी शोक नही करना चाहिए, ऐसा कहते हैं -

कुटुम्ब के विनाश मे भी शोक करना उचित नही

(अनुष्टुप् छन्द)

सुहदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विष।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृता.।।१८४।।

अर्थ – जो अपने को सुखी करते हैं वे तो मित्र होते है और जो दु खी करते हैं वे शत्रु होते हैं। तो जो मित्र थे और अब दु:खी करने को मर गये तो वे भी शत्रु हो गये, अब वे कैसे शोक करने योग्य हैं ? (क्योकि शत्रुओ के लिए तो कोई शोक नही करता।)

भावार्थ – लोक मे जो अपने को सुख उत्पन्न करते हैं वे तो मित्र कहे जाते हैं और जो दु.ख उत्पन्न करते हैं वे शत्रु कहलाते हैं। पुनश्च, जो पहले मित्र भी था और बाद मे अपने को दु:खदायक हो गया तो उसे भी शत्रु ही माना जाता है। और जिसे शत्रु माना जाता है उसका शोक भी नही किया जाता है। यहॉ तेरे स्त्री-पुत्रादिक हैं, वे तो तेरी मान्यता मे मित्र थे परन्तु वे मृत्यु को प्राप्त हुए तब तुझे दु खदायी हुए अत वे भी (दु ख देने-वाले होने के कारण) तेरे शत्रु ही हो गये। अब उनका क्या शोक करना, सो प्रत्यक्ष देखो–जैसे शत्रु का स्मरण करने से दु:ख उत्पन्न होता है वैसे ही मृत्यु के बाद स्त्री-पुत्रादिक का स्मरण भी दु.ख उत्पन्न करता है। इसलिए शास्त्र के न्याय से तो स्त्री-

पुत्रादिक बहुत हितकारी नही और फिर मरने के बाद भी तू उनको हितकारी मानकर शोक करता है, सो यह बड़ा मोह है। यदि तू मोह को दूर करना चाहता है तो स्त्री-पुत्रादिक का मरण होने पर भी शोक मत कर।

स्त्री-पुत्रादिक मित्रो की मृत्यु पर दु.खी हुआ तू क्या करता है, सो कहते हैं -

मृत्यु पर शोक उचित नही
(शिखरिणी छन्द)

अपरमरणे मत्त्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्,
विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथास्य जडात्मन:।
विभयमरणे भूय: साध्यं यश· परजन्म वा,
कथमिति सुधी. शोकं कुर्यान्मृतेऽपि न केनचित्।।१८५।।

अर्थ — जो जीव अपने से अन्य (भिन्न) स्त्री-पुत्रादिको का अलघ्य मरण होने पर उनको अपने जानकर रोता हुआ विलाप करता है, वह जीव अपनी मरणावस्था होने पर भी वैसे ही अत्यन्त रुदन-विलाप करता है। ऐसी मूर्ख आत्मा को भयरहित मरण से उत्पन्न होने-वाले प्रचुर यश और उत्कृष्ट परलोक की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? नही हो सकती। इसलिए सुधी - बुद्धिमान् जीव मृत्यु पर भी किसी प्रकार का शोक नही करते।

भावार्थ — जो जीव स्त्री-पुत्रादिक का मरण होने पर - अपने से प्रत्यक्ष उनका सम्बन्ध छूटने पर भी मोह करके उनको अपना मानता हुआ रोता है, विलाप करता है, वह जीव अपनी मृत्यु होने पर तो अत्यन्त शोक करेगा ही। एक इष्ट का वियोग होने पर ही शोक होता है तो मरण के समय तो सभी का वियोग होता है। इसलिए जिसके पुत्रादिक के वियोग मे शोक होता है उसे मरण के भय रहित समाधिमरण की प्राप्ति नही होती। समाधिमरण से इहलोक मे तो यश प्राप्त होता है और परलोक मे उत्कृष्ट पद की प्राप्ति होती है, सो उसके (मरण मे भय मानने-वाले के) कैसे हो सकते हैं ? इसलिए ज्ञानी जीव मोह को कम कर पहले ही स्त्री-पुत्रादिक को अपना मानते हुए भी किसी की मृत्यु होने पर भी शोक नही करते। ऐसे ज्ञानी के ही समाधिमरण की सिद्धि होती है। इसी से उसे यहाँ यश की और स्वर्ग - मोक्षादिक की प्राप्ति होती है।

यह शोक किससे होता है और यह किस कारण है ? सो कहते हैं -

सुखी होने का उपाय
(अनुष्टुप् छन्द)

हाने: शोकस्ततो दु:खं लाभाद्रागस्तत: सुखम्।
तेन हानावशोक: सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधी. ।।१८६।।

अर्थ — इष्ट सामग्री की हानि से शोक उत्पन्न होता है और शोक से दु:ख होता है। इष्ट सामग्री की प्राप्ति से राग उत्पन्न होता है और उस राग से सुख उत्पन्न होता है। इस कारण बुद्धिमान् जीव हानि में भी शोकरहित रहकर सदाकाल सुखी होते हैं।

भावार्थ — सब जीव सुख चाहते हैं। सुख का घात दु:ख है। दु:ख का कारण शोक है जो इष्ट सामग्री का वियोग होने पर होता है। ज्ञानी इस प्रकार विचार करता है कि जो मोह से परवस्तु को इष्ट मानते हैं सो ये इष्ट नही और ये परवस्तुएँ मेरी कभी हो नही सकती। मेरे सुरक्षित रखने पर भी सुरक्षित रहती नही इसलिए पर के वियोग में शोक क्या करना ? इस प्रकार विचार करके यदि हानि होने पर भी शोक न किया जाए तो उसको दुःख क्यो हो, दु ख हुए बिना सुख का अभाव होता नही, तब ऐसे ज्ञानी सदाकाल सुखी ही रहते हैं। इसलिए यदि सुखी रहना चाहते हो तो हानि होने पर भी शोक मत करो। और यदि कोई हानि न होने के उपाय करके सुखी होना चाहता है तो ससार मे तो सामग्री की हानि होगी-ही-होगी इसलिए इसका शोक नही करना। यही सुखी होने का उपाय है।

जो यहाँ सुखी होता है वह परलोक मे कैसा होता है ? सो कहते हैं -

त्याग मे सुख, ग्रहण मे दु ख

(अनुष्टुप् छन्द)

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दु:खं समश्नुते।
सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्यय.।।१८७।।

अर्थ — इस लाक मे जो सुखी है वह परलोक मे भी सुख प्राप्त करता है और जो इस लोक मे दुःखी है वह परलोक मे भी दुःख ही प्राप्त करता है। सर्व प्रकार से वस्तुओ का त्याग तो सुख है और इसके विपरीत परवस्तु का ग्रहण सो दु:ख है।

भावार्थ — कोई जीव ऐसा भ्रम करे कि वर्तमान के सुखो को छोड़कर कष्ट (दु ख) सहे तो परलोक में सुख प्राप्त हो। वह परलोक तो परोक्ष है, न जाने वहाँ क्या होगा ? अत यहाँ सुख छोड़कर कष्ट (दुःख) सहना सो तो उचित नही। उसे समझाते हैं - जो यहाँ दु ख उठावेगा वह परलोक मे सुख पावेगा, ऐसा तू भ्रम मत कर। जो यहाँ सुखी होगा वही परलोक में भी सुखी होगा। और जो यहाँ दुःखी होता है वह परलोक मे भी दु:खी होता है।

प्रश्न — शास्त्रो मे तो यह प्रसिद्धि है कि जो विषयसुखो का सेवन करता है वह दु ख प्राप्त करता है, तथा जो तपश्चरणादिक कष्ट सहन करता है, वह सुख पाता है। तुम (इससे विपरीत) कैसे कहते हो ? उत्तर - तू तो बाह्य सामग्री से सुख-दु:ख मानता है, सो यह तेरे भ्रम है। जबकि हम यह कहते हैं कि जो अपने परिणाम आकुलता रहित होते हैं वह तो सुख है और आकुलता सहित होते

हैं वह दुःख है। आकुलता मोह के कारण परद्रव्य को ग्रहण करने पर होती है, क्योंकि परद्रव्य को ग्रहण करने से वे अपने नही हो जाते, उनका परिणमन अपने आधीन नही होता, तब आकुलता उत्पन्न होती है इसलिए परद्रव्य का त्याग करके निराकुलता प्राप्त करने मे ही सुख है। ऐसी दशा होने पर वर्तमान मे भी जीव सुखी होता है और आगे भी इसका फल परमसुख की प्राप्ति ही है। परद्रव्य को ग्रहण कर आकुलता करने से दुःख उत्पन्न होता है अत ऐसी दशा होने पर वर्तमान भी दुःखी हो जाता है और आगामी भी इसका फल दु ख ही है। शास्त्रो मे विषयसेवन का फल दु.ख ही कहा है। तृष्णा और आकुलता सहित विषयो के सेवन का फल दु ख होता है। विषयसुख तो भोगभूमि के जीवो के तथा इन्द्रादिक के बहुत होते हैं परन्तु उनके तृष्णा थोड़ी होती है इसलिए वे कुगति को प्राप्त नही होते। दरिद्र व्यक्तियो को विषयसुखो की प्राप्ति नही होती है परन्तु वे तृष्णा से आकुल होकर नरकादिक प्राप्त करते हैं। और जो तपश्चरणादिक कष्ट का फल सुख कहा गया है, सो बाह्य मे तो तपश्चरणादिक किया जाता है परन्तु अन्तरग मे सक्लेश रूप दु ख नही होता है। इसलिए तप का फल सुख कहा गया है। और जो तपश्चरण करते हुए दु.खी नही होता है, उसके आर्त्तध्यान होने से उसका फल दु ख ही होता है इसलिए जो जीव मोह घटने से वर्त्तमान मे सुखी होता है वही आगामी भव मे भी सुख प्राप्त करता है। और मोह बँधने से वर्तमान मे भी दु खी होता है तथा आगामी भी दु ख ही प्राप्त करता है। शास्त्रो मे भी दु.ख-शोकादिक से असाता का बन्ध कहा गया है। असाता का उदय आने पर दु·खी ही होता है इसलिए 'दु ख का फल सुख है', इस प्रकार का भ्रम करके परलोक के सुख का उपाय करने से पराङ्मुख मत हो। और भी, जो यहाँ विषयसुख छोड़ते है सो मिश्री मिलने पर जैसे गुड़ का स्वाद बुरा लगता है वैसे ही शान्ति रस की प्राप्ति होने पर विषयसुख नीरस भासित होता है इसलिए वे विषयसुखो का भोग नही करते और उनके छोड़ने पर दु·खी भी नही होते। अत. विषयसुखो के छोड़ने का भय भी मत कर। सच्ची धर्मसाधना से वर्तमान मे भी सुख होता है और आगामी भव मे भी सुख ही होता है, ऐसा ही कार्य करना उचित है।

पुत्रादिक के मरण से तो शोक होता है और उनके जन्म से हर्ष होता है, सो यह उत्पत्ति-जन्म क्या है, ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं -

जन्म-मरण मे हर्ष-विषाद योग्य नही

(अनुष्टुप् छन्द)

मृत्योर्मृत्व्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम्।
तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः।।१८८।।

अर्थ — इस संसार मे देहधारी जीवों के एक मरण से दूसरे मरण की प्राप्ति का नाम उत्पत्ति है। इसलिए जो इस उत्पत्ति मे हर्षवन्त होते हैं उनको मैं पीछे होने-वाले मरण मे पक्षपाती मानता हूँ।

भावार्थ – पुत्रादिक का जन्म होने पर हर्ष किया जाता है और उनकी मृत्यु पर शोक किया जाता है। सो यह जन्म है सो नवीन मरण ही है। क्योकि आयु के नाश का नाम मरण है, सो समय-समय प्रतिसमय आयु घटती है। इसलिए इसके सदाकाल मरण ही देखा जाता है। पूर्वपर्याय सम्बन्धी मरण छोड़कर नवीन पर्याय सम्बन्धी मरण के प्रारम्भ का नाम जन्म है। ऐसे जन्म मे जो हर्ष मानते हैं, वे नवीन मरण के पक्षपाती अनुरागी हैं। जो मरण के अनुरागी है उनके परस्पर हित सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है। इस प्रकार युक्ति प्रस्तुत कर पुत्रादिक के जन्म-मरण मे हर्ष-विषाद करना छुड़ाया है।

सर्व सग (परिग्रह) के त्यागी, जन्म-मरण मे भी समताबुद्धि रखने वाले, सर्वशास्त्रो के ज्ञाता, दुर्द्धर तपश्चरण करने-वाले मुनि को शिक्षा देते हुए सूत्र कहते हैं -

तपश्चरण और शास्त्राभ्यास से लाभ-पूजादि की आकाक्षा मत कर

(पृथ्वी छन्द)

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोर तपो,
यदीच्छसि फल तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशय,
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम्।।१८९।।

अर्थ – सर्व शास्त्रो का अध्ययन कर और चिरकालपर्यन्त घोर तपश्चरण करके भी जो तू इनका फल इस लोक मे लाभ-बड़ाई आदि चाहता है सो तू विवेक रहित होकर मानो तपरूपी वृक्ष के पुष्प को ही छेदता है। इस तप के श्रेष्ठ सरस फल स्वर्ग, मोक्षादिक को कैसे प्राप्त करेगा ?

भावार्थ – जैसे कोई वृक्ष उगावे तो पहले फूल आवे, बाद मे फल लगे। परन्तु यदि कोई फूल को ही छेदकर स्वय अंगीकार करे तो उसे मीठे पके फल की प्राप्ति नही होती। वैसे ही जो जीव शास्त्राभ्यास बहुत करे और उत्कृष्ट तपश्चरण भी करे, उसको पहले लाभ-पूजादिक की प्राप्ति होती है, भक्त पुरुष के मनोरथ की सिद्धि होती है या स्वयमेव ऋद्धि-चमत्कारादि उत्पन्न होते हैं- इस प्रकार तो लाभ होता है और विशेष महन्तता प्राप्त होती है, इस प्रकार वह पूज्य भी हो जाता है, ये कार्य होने के बाद ही स्वर्ग, मोक्ष रूप फल की प्राप्ति होती है। परन्तु जो जीव लाभ-पूजादिक की आकाक्षा स्वय करे, आप अंगीकार करे, लोभी होकर भक्त पुरुषो से कुछ लेना चाहे या उनके द्वारा दिये हुए धन को अंगीकार करे या ऋद्धि-चमत्कारादिक को चाहे, उनके होने पर सन्तुष्ट हो जाये और मानी होकर स्वय महन्तपने या बड़प्पन की इच्छा करे या महन्तता बड़ाई होने पर अभिमानी हो जाये तो उस जीव को परम सुख रूप रस को प्रकटाने-वाले स्वर्ग और मोक्षरूप फल की प्राप्ति नही होती है। इसलिए यह शिक्षा है कि शास्त्राभ्यास तथा तपश्चरण का साधन कर लाभ-पूजादिक का आकाक्षी मत होना।

तपश्चरण और शास्त्राभ्यास का फल उपशम भाव है -

(पृथ्वी छन्द)

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपंक्ति विना,
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसक्लेशनैः।
कषायविषयद्विषो विजयसे तथा दुर्जयान्,
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः।।१९०।।

अर्थ — हे भव्य! तू लोक की पक्ति के बिना (अर्थात् ख्यातिलाभ की इच्छा के बिना) निरन्तर शास्त्रो का अध्ययन कर, कायक्लेश आदि विशिष्ट तप कर, शरीर का भी शोषण कर, जिससे दुर्जय कषाय, विषयरूपी शत्रुओ को तू जीत सके। महामुनि तपश्चरण और शास्त्राभ्यास का फल उपशम भाव ही बताते हैं।

भावार्थ — केवल शास्त्र का पढना और तपश्चरण करना ही कार्यकारी नही है। कार्यकारी तो उपशम-भाव है। जो जीव शास्त्र पढकर तत्त्वज्ञान से कषायों को घटाता है अथवा तपश्चरण करके इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी रागद्वेष न होने के साधन करने से कषायो को घटाता है, उसका तो शास्त्र पढना और तप करना सफल है परन्तु जो जीव शास्त्र पढकर तपश्चरण करके भी विषय-कषायो के कार्यो की सिद्धि करता है, मन रमाने (मनोरजन) के लिए अथवा मान-बढाई के लिए अथवा भोजन, धनादिक के लिए शास्त्र पढता है, तप करता है, वह जीव तो अभी लोक की पक्ति मे ही बैठा है। जैसे अन्य लोग विषय-कषायो के लिए व्यापार-सेवादिक कार्य करते हैं, वैसे ही इसने भी उपाय किया है। प्रश्न - व्यापारादिक कार्यों मे तो हिंसादिक होती है, इस उपाय मे कोई हिंसादिक नही है इसलिए व्यापारादिक से तो यह उपाय अच्छा है ? उत्तर - व्यापारादिक कार्यों मे तो बाह्य पाप विशेष दिखाई देता है और इस उपाय मे अन्तरङ्ग पाप बहुत होता है।

कोई पूछता है कि लोगो को शृगार सहित देखकर जीवो के मन मे विषयो की अभिलाषा उत्पन्न होती है, अत वे विषय-कषाय कैसे जीते जाये ? गुरु उत्तर देते है -

विषयाभिलाषा मह दु ख का कारण है

(वसन्ततिलका छन्द)

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं,
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य,
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य।।१९१।।

अर्थ — हे भव्य! तू लोगो को शृंगार सहित देखकर क्यो विषयाभिलाषा को प्राप्त होता है ? यह

थोड़ी भी विषयाभिलाषा तेरे लिए महान् अनर्थ उत्पन्न करने वाली है। जैसे रोगी को दही, दुग्ध, घृतादिक का किंचित् भी सेवन अयोग्य आचरण है, वह दोष उत्पन्न करता है वैसा और किसी को नही।

भावार्थ — अज्ञानी जीव लोगो को शृंगारादि सहित (विषयाभिलाषी) देखकर विषयो की वाञ्छा करता है सो तू कभी मत कर। थोड़ी-सी अभिलाषा तुझे महादु:ख का कारण है। जैसे कोई रोगी चिकनाई-वाली वस्तु का किंचित् भी सेवन करे तो उसके रोग में वृद्धि होती है अत रोगी को चिकनाई-वाली वस्तु का सेवन उचित नही। उसी प्रकार विवेकियो के लिए भी विषयाभिलाषा उचित नही।

जीव मात्र को दु:खदायक वस्तु से अरुचि होती है। ये विषय तुझे भव-भव मे दुःख देने-वाले रहे हैं अत उनमे तुझे अभिलाषा करना कैसे योग्य है ?

भव-भव मे दु ख देने-वाले विषयो की अभिलाषा उचित नही

(हरिणी छन्द)

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं,
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे-भवे,
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुध ।।१९२।।

अर्थ — जैसे कोई मनुष्य अपनी प्रिय स्त्री - जिससे उसने बहुत अधिक प्रीति की है - उसके दुराचार की बात सुने तो सुनते ही तत्काल वह उसे तज देता है। वैसे ही आत्मकल्याण मे सावधान रहने - वाला विवेकी भोजन के समान जो ये विषय हैं, भव-भव मे इनके दोष देखकर कैसे इनका सेवन कर सकता है ? अर्थात् सर्वथा नही करता।

भावार्थ — किसी को अपनी स्त्री से अधिक प्रीति हो और वह उसके दुराचार की बात जाने तो वह अविलम्ब उसको छोड़ देता है वैसे ही पण्डित, विवेकी, आत्मार्थी, भव-भव मे विषयो के दोष देखकर कैसे विषयानुरागी हो सकता है ? सर्वथा नही हो सकता। विष का भरा हुआ भोजन मीठा तो लगता है परन्तु प्राणो का हरण करता है, उसी प्रकार ये विषय रमणीक भासित होते हैं परन्तु भव मे प्राणो का हरण करते हैं।

आगे कहते हैं कि जिस समय तू विषयो का अभ्यास करता है, उस समय कैसा अनुभव करता है और जब इनसे रहित हो जाता है तब कैसा अनुभव करता है -

परमात्मदशा प्राप्त होने पर अनन्त सुख मे निश्चल स्थिति

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आत्मन्! आत्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं,
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।

आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः,
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ।।१९३।।

अर्थ — हे आत्मन्! आत्मज्ञान का लोप करने-वाले विषय-कषायादिक मे प्रवृत्ति कर तू चिरकाल तक दुराचारी बना रहा। जब तू आत्मा के सम्पूर्ण कल्याण के कारण ज्ञान-वैराग्यादिक रूप निज भावो को अंगीकार करेगा तब उनके अङ्गीकार से ही तू श्रेष्ठ आत्मा बनेगा। आत्मा के द्वारा ही प्राप्य परमात्मदशा को पाकर केवलज्ञान से प्राप्त होने-वाले आत्मीय सुख मे सुशोभित हुआ अपने शुद्धात्म भावों से अध्यात्म स्वरूप मे निश्चल स्थिति प्राप्त करेगा।

भावार्थ — जब तक तेरी बहिरात्मदशा है तब तक विषय-कषायो के सेवन से तू दुराचारी बना हुआ है। जब सकल कल्याण रूप ज्ञान-वैराग्यादिक का आचरण करेगा तब अन्तरात्मा होकर परमात्म पद प्राप्त करेगा। वहाँ केवलज्ञान रूप होने पर अनन्त सुख मे निश्चल स्थिति होगी।

यह तन पाय महातप कीजे -
(पृथ्वी छन्द)

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित ,
ततोऽनशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः।
क्रमेण विलयावधि स्थिरतपो विशेषैरिदं,
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम्।।१९४।।

अर्थ — इस जगत् मे इस शरीर ने तुझे पूर्व - अनन्तकाल मे दास की भाँति खूब घुमाया (भटकाया); अब तू उपवास, अल्पाहार तथा रसपरित्यागादि विधि रूप तपश्चरण कर निरन्तर अनुक्रम से मरणपर्यन्त इसे क्षीण कर, जैसे कोई हाथ आए शत्रु को क्षीण करता है।

भावार्थ — पहले (पूर्वकाल मे) इस शरीर ने तुझको अनन्तकाल तक दास के समान भव-भव मे भटकाया। इसके सम्बन्ध से तूने अनेक दुःख पाये। इसलिए अब तू जैसे कोई हाथ आये शत्रु को क्षीण करता है, वैसे ही तू नाना प्रकार तपश्चरण कर इस शरीर को क्षीण कर।

इस संसार मे जो कुछ अनर्थ की परम्परा चलती है, उसका मूल कारण यह शरीर है, इसलिए शास्त्रोक्त तपश्चरण कर तू इसे क्षीण कर-

सब दु खो का मूल शरीर है
(वसन्ततिलका छन्द)

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि,
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानम्।

हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु-
मूलं ततस्तनुरनर्थ-परम्पराणाम्।।१९५।।

अर्थ – सबसे पहले शरीर की उत्पत्ति होती है। इस शरीर मे ये दुष्ट इन्द्रियॉ विषयो की वाञ्छा करती हैं। वे विषय महन्तता (बड़प्पन) की हानि करते है और महाक्लेश के कारण हैं। अत्यन्त भय प्रदान करने-वाले, पाप को उत्पन्न करने-वाले और नरक-निगोदादि कुयोनियो के दायक हैं। इसलिए यह शरीर ही अनर्थ की परम्पराओ का मूल कारण है।

भावार्थ – ससार दशा मे यह जीव पहले प्राप्त शरीर को छोड़कर नवीन शरीर को धारण करता है, शरीर मे ये दुष्ट इन्द्रियॉ अपने विषयो की वाञ्छा करती हैं। वे विषय अपमान के कारण, क्लेशो के कर्त्ता, भयकारी, पाप उत्पन्न करने-वाले और कुगति के देने-वाले हैं अत इस शरीर को ही अनर्थ की परम्परा का मूल कारण जानना।

इस प्रकार के शरीर का पोषण कर अज्ञानी जीव क्या करता है, सो कहते है -

शरीर और विषयो से प्रेम करना पूरा अज्ञान है

(अनुष्टुप् छन्द)

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम्।।१९६।।

अर्थ – अहो लोगो! मूर्ख जीव क्या-क्या नही करता। शरीर का तो पोषण करता है और विषयो का सेवन करता है। मूर्खों को कुछ विवेक नही, विषभक्षण कर जीना चाहते हैं। अविवेकियो को पाप का भय नही होता, न किसी प्रकार का विचार होता है, वे तो बिना विचार ही न करने योग्य कार्यों को भी कर डालते हैं।

भावार्थ – जो पण्डित और विवेकी हैं वे शरीर से अधिक प्रेम नही करते। नाना प्रकार की सामग्रियों से इसका पोषण नही करते और विषयो का सेवन नही करते। किन्तु जो मूढबुद्धि हैं वे शरीर का ही पोषण अधिक करते हैं, विषयो का प्रचुर सेवन करते हैं और न करने योग्य कार्य करने मे भी शंका नही करते। जो विषयो का सेवन करते हैं वे (मानो) विष खाकर जीवित रहना चाहते हैं।

शरीर को तपश्चरणादिक से पीड़ा उत्पन्न करने-वाले मुनि भी कलिकाल के दोष से कायक्लेश के स्थान - पर्वत की गुफादिक को छोड़कर गॉव के निकट आ बसे हैं, सो कहते है -

(अनुष्टुप् छन्द)

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विषन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।।१९७।।

अर्थ — जैसे मृग दिन में वन में जहाँ-तहाँ भ्रमण करते रहते हैं परन्तु सिंहादिक के भय से रात्रि मे वन से गाँव के निकट आ जाते हैं, वैसे ही कलिकाल मे मुनि भी दिन मे वन मे रहकर रात्रि मे ग्राम के समीप आ जाते हैं। सो हाय! हाय! यह बड़ा कष्टकर है। मुनि तो महानिर्भय होते हैं, वे मृगो की भाँति ग्राम के निकट कैसे आकर रहते हैं ?

भावार्थ — मृगो की तो यह रीति है कि वे दिन भर वन मे विचरण करते है और रात्रि मे गॉव के निकट आकर रहते है। वैसे ही इस पंचम दु खमा काल मे मुनि भी रात्रि मे गॉव के निकट निवास करते हैं, यह बड़ा दोष है। मुनियो को तो गिरिशिखर, गुफा, विषम वन, नदियो के तट आदि निर्जन स्थानो मे रहना ही योग्य है।

तपस्या अङ्गीकार करके भी जो इन्द्रियो के वशीभूत होते हैं, उमसे तो गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है -

भ्रष्ट तप की अपेक्षा गृहस्थपना अच्छा है

(अनुष्टुप् छन्द)

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्यः तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसम्पद ।।१९८।।

अर्थ — इस जगत् मे स्त्रियो के नेत्रो के कटाक्ष रूप लुटेरो से जिनकी वैराग्य सम्पदा लूट ली गई है और जिनका ससार-भ्रमण होने-वाला है, ऐसे (तपधारियो के) तप से तो गृहस्थपना ही श्रेष्ठ है।

भावार्थ — गृहस्थावस्था मे तो निजस्त्री का सेवन है ही। परन्तु नगर की स्त्रियो के नेत्रो के कटाक्ष रूप लुटेरो से जिनकी वैराग्य सम्पदा लूट ली गई है ऐसे तपधारियो के तप से तो गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ जाननी। ऐसा तप तो ससार का ही कारण है।

इस शरीर के योग से तू स्त्री का अनुरागी होकर दु खी हुआ है सो तेरा यह शरीर तेरे पीछे एक कदम भी नही जाता, अत शरीरादिक से स्नेह छोड़ -

शरीर मे राग मत कर

(मन्दाक्रान्ता छन्द)

स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयन् त्यक्तलज्जाभिमान·,
संप्राप्तोऽस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत् कलत्रम्।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोऽसि भूय·,
सख्यं साधो यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण।।१९९।।

अर्थ — हे भव्य! तू इस शरीर के रहते अपना अर्थ यानी शुद्धोपयोग रूप आत्मकल्याण अथवा पंचमहाव्रत रूप यतिधर्म अथवा अणुव्रत रूप श्रावक धर्म - इन सबके नाश को न गिनता

हुआ सैकड़ों अपमानो के बाद स्त्रीसंयोग को प्राप्त हुआ, सो यह स्त्रीसम्बन्ध ही महादु ख का मूल है। कैसा है तू ? तज दिया है लज्जा और अभिमान जिसने (यहाँ अभिमान शब्द का अर्थ गर्व न लेकर अयाचनावृत्ति लेना।) सो तू स्त्री के सम्पर्क से निर्लज्ज और याचक बन गया, इस समान कोई दीनता नही। सो तूने तो शरीर के लिए अपना अर्थ - आत्मकल्याण - खो दिया जबकि तेरे साथ यह शरीर एक कदम भी नही जाता। सो तू इस प्रकार क्यो ठगाया गया है कि बारम्बार इसी से प्रीति करता है। अब तुझे कहते हैं कि यदि तू बुद्धिमान् है तो शरीर से प्रीति मत कर।

भावार्थ — तू तो शरीर का अनेक प्रकार से पोषण करता है और इसके सग से स्त्री का अनुरागी होकर निर्लज्ज और दीन बना बैठा है। यह शरीर तो तेरे साथ एक कदम भी नही जाता इसलिये हे भव्य! तू इस देह से नेह छोड़ और पुत्र-कलत्रादि जो देह के प्रसंगी है, उसने भी प्रीति छोड़।

आगे कहते हैं - जो मूर्तिक पदार्थ हैं उनमे भी, परस्पर मिलाप होने पर भी भेद नही मिटता है। किसी का लक्षण किसी से नही मिलता। तो फिर मूर्तिक (शरीर, पुद्गल) और अमूर्तिक (आत्मा) कैसे एक हो सकेगे। इस बात की तुझे प्रतीति नही होती, सो यह तेरी बड़ी भूल है -

मूर्त का राग छोड़

(शिखरिणी छन्द)

न कोऽप्यन्योऽन्येन व्रजति समवायं गुणवता,
गुणी केनापित त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति -
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदु:खे भववने।।२००।।

अर्थ — कोई भी गुणी-द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य से एकत्व भाव को प्राप्त नही होता, यह प्रत्यक्ष है। तू कर्म के योग से रूपी पदार्थों से ममत्व-भाव को धारण कर जिन शरीरादि पदार्थों पर आसक्ति कर, एकता जानकर प्रवृत्ति कर रहा है वे पुद्गल तेरा स्वरूप नही हैं, तू तो बुद्धिहीन हुआ व्यर्थ ही एकता मान रहा है। ऐसी अभेदबुद्धि से उनमे आसक्त हुआ तू ससार रूपी वन मे अत्यन्त दु.खी होगा, छेदा जायेगा, भेदा जायेगा, भव-भव मे दु ख भोगेगा इसलिए देहादिक से नेह-राग, ममत्व छोड़।

भावार्थ — रूपी पदार्थ जो परमाणु हैं वे भी सब भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि मिलकर वे बन्ध (स्कन्ध) रूप हो जाते हैं फिर भी सब अलग-अलग हैं। सो तू तो अरूपी पदार्थ (आत्मा) है, तुझसे ये कैसे मिलें और तू इनमे कैसे मिले ? अत· इनसे राग छोड़।

आगे कहते हैं - पूर्व में जिसका वर्णन किया वह शरीर ऐसा है तो फिर उसमे ममता - बुद्धिपूर्वक आशा क्यो करनी ?

शरीर मे आशा होना आश्चर्यकारी है

(अनुष्टुप् छन्द)

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके।।२०१।।

अर्थ — कैसा है यह शरीर ? उत्पत्ति तो जिसकी माता है और मरण जिसका पिता है। आधि (मन की चिन्ता, सोच), व्याधि (वायु, पित्त, कफ आदि रोग) ही जिसके भाई हैं और अन्त मे बुढापा मित्र है। शरीर का स्वरूप तो ऐसा है, फिर भी शरीर मे तेरी आशा लगी है, यह बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ — शरीर तो जन्म-मरण, आधि व्याधि-जरा रूप है और तू तो अजर, अमर, अनादिनिधन, अखण्ड, अव्याबाध है। तेरा और इसका कौन-सा सम्बन्ध है ?

तू तो शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है परन्तु शरीर के कारण अशुद्धता को प्राप्त हुआ है -

शरीर और आत्मा मे अन्तर

(वसन्ततिलका छन्द)

शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तोऽ -
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र,
किंवा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम्।।२०२।।

अर्थ — हे चिदानन्द! तू तो शुद्ध निर्मल है और समस्त निज-पर का ज्ञाता है, अमूर्तिक है फिर भी इस जड़ ने तुझे अपवित्र किया है। यह मूर्तिक रूपी शरीर सदैव अशुचि और जड़ है तथा संसार में जो केशर-कर्पूरादि सुगन्धित वस्तुये हैं, उनको भी दुर्गन्धित करता है। इसलिए इस शरीर को बार-बार धिक्कार है।

भावार्थ — जो केशर, कर्पूरादि सुगन्धित द्रव्य हैं वे भी शरीर के सम्बन्ध से दुर्गन्धित हो जाते हैं। इसके (शरीर के) सम्बन्ध से तू महादुःखी हुआ है, तूने चारो गतियो के दु ख भोगे हैं, अशुचि अपावन देह धारण कर तू स्वय अशुचि कहलाया है। इसलिए इससे प्रेम छोड़। धिक्कार है इस शरीर को जिसके प्रसङ्ग से तू संसार वन मे भटका।

इस शरीर मे तूने अनुराग वृद्धि कर नष्ट हुए निन्द्य शरीर को भी अनिन्द्य जाना -

शरीर से ममत्व त्याग साहस का काम है

(अनुष्टुप् छन्द)

हा! हतोऽसि तरां जन्तो येनास्मिन् तव साम्प्रतम्।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं, तत्त्यागः किल साहसम्।।२०३।।

अर्थ — हाय! हाय! हे प्राणी! तू अत्यन्त ठगा गया, नष्ट हुआ, शरीर से ममत्व करके अत्यन्त दु खी हुआ। काया को अपवित्र जानना यही ज्ञान है और इसे पवित्र मानना यही अज्ञान है। शरीर से ममत्व छोड़ना इसका निरादर कर इसे तजना यही बड़ा साहस है।

भावार्थ — अनादि काल से तूने अपने स्वरूप को नही जाना, तू पर को अपना मान कर स्वयं नष्ट हुआ। यह शरीर अपवित्र है, तू महापवित्र है। तेरा और इसका क्या सम्बन्ध ? इसलिए देह से नेह छोड़कर निर्ममत्व धारण कर ताकि पुन· शरीर न धारण करना पड़े।

आगे कहते हैं कि यद्यपि साधु को शरीर से ममता नही होती फिर भी प्रबल रोग के उदय से चित्त मे व्याकुलता तो होती होगी, दो श्लोको मे इसका व्याख्यान करते है -

रोगादि के कारण अशान्ति हो तो क्या करे ?

(अनुष्टुप् छन्द)

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनि· खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले।।२०४।।

रोग बढ जाने पर क्या करे ?

(वसन्ततिलका छन्द)

जातामय· प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा,
नोचेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेहं,
निर्हाय वा व्रजति तत्र सुधी· किमास्ते।।२०५।।

अर्थ — रोगादिक की वृद्धि होने पर भी मुनि खेद को प्राप्त नही होते। जैसे नदी का जल वृद्धि को प्राप्त होने पर भी मजबूत नाव मे बैठे हुए को कोई विकल्प नही होता, वैसे ही ज्ञानी मुनि को रोगादि की वृद्धि मे कैसा विकल्प ? (अर्थात् कोई विकल्प नही होता) और यदि अणुव्रती श्रावक के कदाचित् रोग उत्पन्न हुआ तो वह निर्दोष औषधादि के योग से रोग का शमन कर शरीर मे रहे और प्रबल रोग के कारण उसका शमन होता न जाने तो अनशन वृत्ति धारणकर शरीर का परित्याग कर दे। ये दो ही रीतियाँ हैं। जैसे घर मे आग लगने पर सुबुद्धि से बुझाकर घर मे रहे और यदि आग को बुझती न जाने तो घर छोड़ कर दूर जा बसे, वैसे ही शरीर रहता जाने तो योग्य औषधादिक से रोग की निर्वृत्ति करे और रहता न जाने तो ममत्व रहित होकर उसे छोड़ दे।

भावार्थ — श्रावक के लिए दो मार्ग हैं - पवित्र औषधादिक का सेवन करे या न भी करे। और साधु इच्छापूर्वक तो औषधि का सेवन नही करे परन्तु श्रावक निर्दोष औषध-आहारादिक दे तो रागरहित भाव से ग्रहण करे, रागभाव न करे।

आगे कहते हैं कि औषधादिक से रोग नही मिटे तो ज्ञानियो को शरीर के नाश होने का भय नही करना चाहिए। मरण का भय तो अज्ञानियो को होता है -

अज्ञानी शरीर मे सुख मानता है

(अनुष्टुप् छन्द)

शिरस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नत ।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम्।।२०६।।

अर्थ — जैसे कोई सिर का बोझ उतार कर कन्धे पर धरने मे सुख मानता है वैसे ही जगत् के जीव रोग का भार उतार कर शरीर के भार से सुख मानते हैं।

भावार्थ — जगत् के जीव रोग की निर्वृत्ति पर और शरीर के रहने पर सुख मानते है और ज्ञानी जीव शरीर के सम्बन्ध को ही रोग मानते हैं। इसलिए शरीर के जाने पर (नष्ट होने पर) भी वे विषाद नही करते। जैसा सिर का भार वैसा ही कन्धे का भार। जैसा रोग का दु ख वैसा ही देह-धारण का दु·ख।

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

शरीर से उदासीन होना ही श्रेयस्कर है

(अनुष्टुप् छन्द)

यावदस्ति प्रतीकारस्तावत् कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया।।२०७।।

अर्थ — जब तक रोग का उपशमन होता दिखाई दे तब तक तो योग्य औषधादिक ग्रहण करते हैं और यदि रोग न मिटे तो विकल्प नही करते। शरीर से उदासीन होना, निर्विकल्प रहना यही बड़ा पुरुषार्थ है।

भावार्थ — जब तक शरीर की स्थिति है तब तक रहते हैं और स्थिति पूर्ण होने पर कदाचित् रहे तो भी हर्ष-विषाद नही करते।

शिष्य पूछता है - किस उपाय से शरीर से उदासीनता करनी ?

शरीर का सम्बन्ध ही त्याज्य है

(अनुष्टुप् छन्द)

यदादाय भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः।।२०८।।

अर्थ — तैजस और कार्माण मूल शरीर हैं, उनके योग से नये-नये शरीर धारण कर ससारी जीव

भ्रमण करते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च औदारिक शरीर धारण करते है। देवो और नारकियों का शरीर वैक्रियिक होता है। तैजस-कार्माण के अभाव से जब शरीर न रहे तब जीव मुक्त होता है। शरीर का धारण करना ही संसार है। इसलिए शरीर का सम्बन्ध त्याज्य ही है। क्षुद्र विकल्पो से क्या प्रयोजन ?

भावार्थ — शरीर के धारक ससारी होते हैं और अशरीरी सिद्ध। अत शरीर से ममत्व छोड़ना है।

अब कहते हैं कि जीव तो शरीर का उपकार करता है और शरीर इसके प्रतिकूल रहता है इसलिए शरीर का ममत्व छोड़ना -

शरीर कृतघ्न है

(अनुष्टुप् छन्द)

नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।
सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत्।।२०९।।

अर्थ — सब प्रकार की अपवित्रता का मूल जो शरीर है, उसे भी आत्मा पूज्य पद तक पहुँचाती है और यह शरीर आत्मा को चाण्डालादिक के जन्म से अस्पृश्य करता है इसलिए इसके दुराचार को धिक्कार हो। आत्मा तो इस मलिन शरीर का उपकार करती है। मुनिपद के योग से इसे देवो और मनुष्यादिको द्वारा सेवा के योग्य बनाती है और शरीर अशुभ उत्पन्न कर जीव को कुयोनि मे डाल कर ऐसा कर देता है कि कोई उसका स्पर्श भी नही करता अत इस शरीर को धिक्कार है।

भावार्थ — आत्मा तो शरीर को संयमादि साधनो से पूज्य बनाती है और यह शरीर अज्ञान दशा मे जीव को नरक, निगोद, तिर्यंचगति तथा मनुष्यादि के जन्म से अस्पृश्य कर देता है। यह कोई आश्चर्य की बात नही है। जो अच्छा होता है वह अच्छा ही करता है और जो बुरा होता है वह बुरा की करता है।

संसारी जीव शरीरादि तीन भागो को धारण करते है। सो दो श्लोको मे कहते है -

ससारी जीव के शरीरादि तीन भाग

(अनुष्टुप् छन्द)

रसादिराद्यो भाग· स्याज्ज्ञानावृत्यादिरन्वित ।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु ससार्येव त्रयात्मक·।।२१०।।
भागत्रयमिद नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भागद्वयात् पृथक् कर्तु यो जानाति स तत्त्ववित् ।।२११।।

अर्थ — आदि का भाग तो सप्तधातुमय शरीर है। उसके बाद दूसरा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का भाग है। तीसरा भाग ज्ञानादिक निज भाव का है। इस प्रकार संसारी जीव तीन भागो को

धारण करता है। शरीर के भाग और कर्म के भाग - इन दो भागो से जीव को पृथक् करने की विधि जानने-वाले को तत्त्वज्ञानी कहते है।

भावार्थ — शरीर और इसके मूल कारण कर्मों से जीव को पृथक् कर ज्ञानादिक निज भाव मे रमण करने-वाला तो तत्त्वज्ञानी है और परवस्तु मे रहने-वाला अज्ञानी है।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि दो भागो से आत्मा को पृथक् करना तपश्चरण से सम्भव होता है, सो तप करना बड़ा कठिन है। इसका समाधान करते है -

तप कठिन है तो कषायो को तो क्षीण कर

(अनुष्टुप् छन्द)

करोतु न चिरं घोर तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता।।२१२।।

अर्थ — यदि तू क्लेश सहने मे असमर्थ है, चिरकाल तक दुर्द्धर तप नही कर सकता तो मन से ही जीते जाने-वाले, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप शत्रुओ को तो जीत। यदि इनको भी नही जीतता है तो यह बड़ी अज्ञानता है। कषायो को जीतने मे तो कायक्लेश नही होता, मन ही सुलटता है।

भावार्थ — शरीर के क्लेश के कारण तू तपश्चरण को कठिन मानता है। खैर, यदि दुर्द्धर तप नही कर सकता तो मन को वश मे कर कषायो को ही क्षीण कर। कषायो को जीतने मे तो कायक्लेश नही होता, मन ही मूल कारण है। ये कषाय जीव के शत्रु है।

अब कहते हैं कि जब तक तू कषायो को नही जीतता तब तक मुक्ति के कारणभूत जो उत्तमक्षमादि गुण हैं, उनकी प्राप्ति तुझे अत्यन्त दुर्लभ है -

कषाय रूप शत्रुओ को जीतने का प्रयत्न कर

(मालिनी छन्द)

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे,
वसति खलु कषायग्राहचक्र समन्तात्।
श्रयति गुणगणोऽय तन्न तावद्विशङ्क,
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतु यतस्व।।२१३।।

अर्थ — जब तक मेरे निर्मल अगाध हृदयरूप सरोवर मे निश्चय से कषायरूप जलचरो का समूह बसता है, तब तक गुणो का समूह नि शंक भाव से प्रवेश नही कर सकता। इसलिए शम, दम, यम भेदो से कषायो को जीतने का प्रयत्न कर। शम यानी समताभाव-रागादिक का त्याग, दम यानि मन-इन्द्रियो का निरोध, यम यानी यावज्जीवन जीवहिंसादिक का त्याग।

भावार्थ — जब तक तेरे हृदय मे कषायो का सचरण है तब तक शम-दमादि गुणों का लेश मात्र भी अंगीकार नही है अत कल्याण के लिए कषाय तज।

कषायों का जीतना ही मोक्ष का कारण है, ऐसा कहकर जो कषायो के आधीन होते हैं, उनका उपहास करते हुए कहते हैं -

सकषाय आत्मा कभी शान्त नही रह पाता

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकी,
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया, शंसन्ति शान्तं मन·।
तेषामाखुबिडालिकेति तदिदं धिग्धिक् कले· प्राभवं,
येनैतेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिता·।।२१४।।

अर्थ — जो सुबुद्धि इस भव मे हेतु यानि कारण निष्परिग्रहादि और फल यानि कार्य - मन की शान्तता, इन दोनो को छोड़कर परलोक की सिद्धि की इच्छा करते हैं और स्वय ही अपने मनमाने साधन कर अपनी प्रशसा करते हैं, कषायो के वशीभूत हैं और यह जानते है कि हम शान्तचित्त हैं, सो यह बड़ी विरुद्ध बात है। क्रोधादिक मे और उपशान्ततादि गुणो मे परस्पर शत्रुता है। जैसे बिल्ली और चूहे का परस्पर अनादि से बैर है, अत कलिकाल के प्रभाव को बारम्बार धिक्कार हो, जिसके प्रभाव से सुबुद्धि (पुरुष) भी इहलोक और परलोक के फल का नाश करने से अत्यन्त ठगाये गये हैं।

भावार्थ — जो कषाय छोड़े बिना शान्तचित्त कहलाते हैं वे व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा करते हैं। कषायों के और शान्तता के परस्पर विरोध है। जो बुद्धिमान् होकर भी (कहलाकर भी) आत्मकल्याण नही करते, वे अपने दोनो जन्म बिगाड़ते हैं, वे अत्यन्त ठगाये गये है।

आगे भी गुरु शिष्य को सीख देते हैं - यदि तू महान् तप और ज्ञान सयुक्त है और कषायो का जयी है तो अहकार का लेश भी मत कर, अहंकार को मूल से ही उखाड़ फेक -

कषायजय मे बाधक तत्त्व

(स्रग्धरा छन्द)

उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषायाः,
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग् निम्नदेशेष्ववश्यं,
मात्सर्यं ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि।।२१५।।

अर्थ — तू तपश्चरण मे उद्यमी हुआ है, तुझसे कषाय अति अपमान को प्राप्त हुए हैं। जैसे

समुद्र में जल अगाध होता है वैसे ही तुझे अगाध ज्ञान प्राप्त हुआ है। परन्तु तुझे एक सीख देते है - यह बात दूसरो से अगम्य है। इस दोष को विरले ही तजते हैं। जैसे जल के प्रवाह मे थोड़े ही नीचे स्थान में जल निस्सन्देह गहरा होता है सो गूढ रहता है, लोगो के जानने मे नही आता, वैसे ही अपने बराबर के लोगो मे कर्मों के वश से अदेखसका भाव (ईर्ष्या) होता है, जिसे शास्त्र मे मात्सर्य कहते हैं, यह अति दुर्जय है, तू इसे छोड़।

भावार्थ — यदि तू तपस्वी है, मन्द कषायी है, गम्भीर चित्त वाला है तो मत्सर (अदेखसका) भाव का त्याग कर। अपने बराबर के लोगो मे तथा अपने से अदेखसका भाव मत कर। यह बड़ा दोष है, तू इसका सर्वथा त्याग कर।

आगे कोई प्रश्न करता है कि इन कषायो के रहते जीव का क्या अकल्याण है ? उसे उत्तर देते है कि जहॉ काम क्रोधादिक का उदय होता है वही जीव का अकल्याण है। इस कथन को दृष्टान्त से दृढ़ करते है। पहले क्रोध के उदय मे अकल्याण दर्शाते हैं -

क्रोध से सब काम नष्ट होते है

(वसन्ततिलका छन्द)

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्,
क्रुद्ध्वा बहि· किमपि दग्धमनङ्गबुध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्था,
क्रोधोदयाद् भवति कस्य न कार्यहानि ।।२१६।।

अर्थ — देखो, 'काम' तो चित्त मे था, बाहर नही था परन्तु हर (शिव) ने क्रोध से कामदेव जानकर किसी बाह्य पदार्थ को भस्म कर दिया परन्तु इससे 'काम' नही मरा। काम के योग से स्वय हर (महादेव) सराग अवस्था को प्राप्त हुआ। काम की घोर वेदना उसने सही। अत क्रोध के उदय से किसके कार्य की हानि नही होती ? (अपितु सबकी होती है।)

भावार्थ — क्रोध का उदय होने पर सर्व कार्यो का नाश हो जाता है। किसी ने किसी बाह्य पदार्थ को 'कामदेव' जानकर भस्म कर दिया परन्तु इससे काम तो मरा नही, अपितु वे क्रोधी स्वय काम से पीड़ित हुए।

आगे मान के उदय मे अकल्याण दर्शाते है -

मान मोक्ष मे विघ्नकारी है

(वसन्ततिलका छन्द)

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं,
यत् प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्त·।

क्लेशं तमाम किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महती करोति।।२१७।।

अर्थ — देखो, बाहुबली ने अपनी दाहिनी भुजा पर आकर ठहरे हुए चक्र को छोड़कर जिनदीक्षा धारण की और तपस्या से संसार से मुक्त हुए। परन्तु कुछ एक दिन किंचित् सज्वलन मान का उदय रहा, जिससे एक वर्ष पर्यन्त केवलज्ञान उत्पन्न नही हुआ। महान् कायक्लेश किया तो भी मान के नाश बिना मुक्त नही हुए। यह तुच्छ (थोड़ा-सा) मात्र मान महा मोटी हानि करता है। इसलिए मान त्याज्य है। तन, धन, रूप, सम्पदा, यौवन और राजलक्ष्मी - जो इनका गर्व किया जाता है सो ये सब तो क्षणभगुर हैं और आत्मा निश्चय से सिद्ध समान है। तीनो लोको का आभूषण है उसके मान किस बात का ?

भावार्थ — मान ही मोक्ष का विघ्नकारी है। बाहुबली सदृश तपस्वी बलवान् विवेकी, सूक्ष्मसंज्वलन मान के उदय से एक वर्ष तक केवलज्ञान को प्राप्त नही कर सके। जब मान कषाय की कणिका भी चली गई तब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

आगे कहते हैं कि वे विवेकी (पुरुष) महन्तता (बड़प्पन, महिमा) को जानते है, उन्हे तुच्छ मात्र भी मान करना उचित नही है - यह भाव दो श्लोको मे दर्शाते हैं -

गुणहीन का मान करना आश्चर्यजनक है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमो,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृते।
येषा प्रागजनीह तेऽपि निरहङ्कारा· श्रुतेर्गोचरा-
श्चित्रं सम्प्रति लेशितोऽपि न गुणास्तेषां तथाऽप्युद्धताः।।२१८।।

कैसा अभिमान ? एक से एक बड़ा है
(मालिनी छन्द)

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै-
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु।।२१९।।

अर्थ — इस लोक मे पूर्वकाल मे कई महापुरुष हो गये जिनके वचनो मे सत्य, शास्त्र मे बुद्धि, हृदय मे दया, भुजाओ मे शूरवीरता - पराक्रम, लक्ष्मी की याचना करने-वाले समूह मे पूर्ण दान और

निर्वृति मार्ग में गमन - ऐसे-ऐसे गुण हुए तो भी शास्त्रो मे उनको अहकार रहित बताया गया है। परन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि आज इस कलिकाल मे लेश मात्र भी जिनमे गुण नही हैं तो भी वे उद्धत देखे जाते हैं, महागर्व मे तृप्त हो रहे हैं।

भावार्थ — चतुर्थ काल मे बड़े सत्यवादी, शूरवीर, दयावान, दातार, महाविरक्त पुरुष हुए तो भी उनके लेश मात्र भी अभिमान नही था और आज रचमात्र तो गुण नही है फिर भी पुरुष उद्धत है, घमण्डी है, यही बड़ा आश्चर्य है।

अर्थ — गर्व करना मिथ्या है। गर्व तो तब करना चाहिए जब अपने से कोई अधिक न हो, बड़ा न हो सो यहाँ लोक मे एक-से-एक अधिक है। प्रत्यक्ष ही देख लो - इस पृथ्वी पर समस्त जीव रहते हैं। सबका आधार पृथ्वी है। सो यह तीन लोक की भूमि, घनोदधि, घनवात, तनवात इन तीन वातवलयो के आधार पर स्थित है। पृथ्वी और वातवलय ये दोनो आकाश के उदर मे हैं, वह अनन्त आकाश केवली के ज्ञान अश मे लीन हो गया है। इस प्रकार एक से बढकर एक है। इसलिए जगत् मे अपने से बहुतो को अधिक जानकर कौन गर्व करे ? विवेकी तो कदापि गर्व नही करते।

भावार्थ — एक से बढकर एक हैं। सब पृथ्वी के आधार हैं, पृथ्वी पवन के आधार है, वातवलयो के आधार हैं, वे वातवलय आकाश के आधार है और वह आकाश पूर्ण ज्ञान मे समा गया है और ससारी जीवो मे ऐश्वर्य-विभूति की अपेक्षा एक-से-एक बढकर है। जीवत्व की दृष्टि से सब समान हैं।

अब, मायाचार के योग से जीव का अकल्याण होता है, सो तीन श्लोको मे दर्शाते है -

मायाचार महादुराचार है, निन्द्य है

(शिखरिणी छन्द)

यशो मारीचीयं कनकमृग-मायामलिनितं,
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुत·।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबटुवेषेण नितरा-
मपि छद्मात्यं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः।।२२०।।

(अनुष्टुप् छन्द)

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहय.।।२२१।।

(वसन्ततिलका छन्द)

प्रच्छन्नकर्म मम कोऽपि न वेत्ति धीमान्,
ध्वंसं गुणस्य महतोऽपि हि मेति मंस्था·।

कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहो,
गूढोऽप्यबोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः॥२२२॥

अर्थ – थोड़ा-सा भी कपट महान् गुणो का भी घात कर देता है जैसे घने दूध को विष की कणिका मात्र दूषित कर देती है। देखो मारीच को, वह रावण का मन्त्री था, उसका यश कपटपूर्वक स्वर्णमृग बनने से मलिन हो गया। राजा युधिष्ठिर का अति निर्मल यश भी उनके मुख से यह वचन निकलने पर कि 'अश्वत्थामा हत नरो वा कुजरो वा' (अश्वत्थामा मारा गया, न जाने हाथी है या मनुष्य) मलिन हो गया। मायाचारपूर्वक कहे गये वचनों के कारण राजा युधिष्ठिर मित्रो मे लघुता को प्राप्त हुए। कृष्ण वामनावतार मे कपटपूर्ण वटु-बालक के वेष से श्यामवर्ण हुए - अपयश रूप कालिमा से कलकित हुए। इसलिये थोड़ा भी मायाचार बहुत गुणो का घात करता है।

भावार्थ – मायाचार महादुराचार है। मारीच मन्त्री लघुता को प्राप्त हुआ। युधिष्ठिर सदृश महान् व्यक्ति भी 'अश्वत्थामा हत .' वचन कहकर लज्जा को प्राप्त हुए।

अर्थ – अहो भव्य जीव! मायारूपी गहरे गड्ढे से डरो। यह गड्ढा मिथ्याभाव रूपी महा अन्धकारयुक्त है, इसमे क्रोधादिक महादुष्ट सर्प छिपे हुए हैं। जहॉ गड्ढा होता है वहॉ अन्धकार ही होता है और उसमे सर्प ही रहते हैं।

भावार्थ – यह मायारूपी गर्त अतीव गहरा है। इसमे मिथ्यात्व रूप अन्धकार है और इसमे क्रोधादि सर्पो का निवास है।

अर्थ – हे जीव! तू ऐसा भ्रम मत रख कि मेरे गुप्त पाप को कोई नही जान सकेगा, बुद्धिमान् ही नही जान सके तो और लोग तो कैसे जाने ? और मेरे महान् गुणो को यह पाप कैसे आच्छादित करेगा ? ऐसा तू कदापि मत जान। प्रत्यक्ष देख कि चन्द्रमा अपनी उज्ज्वल किरणो से जगत् के आताप का निवारण करता है सो ऐसे चन्द्रमा को भी प्रच्छन्न राहु आच्छादित कर देता है, इस बात को सभी जानते हैं। ऐसा कौन है जो इस बात को न जानता हो।

भावार्थ – पाप छिपाने से नही छिपता। गुप्त राहु का दूषित पाप सबके द्वारा देखा जाता है, उसी प्रकार इस भ्रम मे मत रह कि मेरे पाप छिप जायेगे, वे तो प्रकट होगे ही।

अब लोभ कषाय से जीव का अकल्याण दर्शाते है -

लोभ घातक है
(हरिणी छन्द)

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलबालधिः,
किल जडतया लोलो बालव्रजेऽविचलं स्थितः।

वत! स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः,
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तय ।।२२३।।

अर्थ – देखो, लोक मे यह प्रसिद्ध है कि एक वनचर (भील कहो या व्याघ्र) के भय से सुरभि (गाय) भागी। दैवयोग से उसकी पूँछ किसी बेल मे उलझ गई। मूर्खतावश अपनी पूँछ के बालो के लोभवश वह वही खड़ी हो गई तो पीछे से आने-वाले वनचर ने उसे प्राणरहित कर दिया। इसलिए जो तृष्णातुर होते हैं उनके बहुतायत मे इसी प्रकार की विपत्तियॉ होती हैं।

आगे कहते हैं - अकल्याणकारी कषायो को जीतने से जिनका ससार अल्प रह गया है उन्हे कैसी सामग्री प्राप्त होती है, उसे दो श्लोको मे दर्शाते हैं -

जो ससार तट के निकट है, उनकी पहचान

(हरिणी छन्द)

विषयविरतिः सङ्गत्यागः कषायविनिग्रहः,
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।।२२४।।

अर्थ – विषयो से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायो का निग्रह, शान्तता, रागादिक का त्याग, दम यानी मन और इन्द्रियो का निरोध, यम यानी यावज्जीवन जीव हिंसादिक पापो का त्याग, तत्त्वाभ्यास, तपश्चरण का उद्यम, मनोवृत्ति का निरोध, जिनभक्ति, जीवदया आदि सामग्री विवेकी जीव को संसार समुद्र का तट निकट आने पर प्राप्त होती है।

(मालिनी छन्द)

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः।।२२५।।

अर्थ – यम-नियमादि योग के मूल है। यम यानी जन्मपर्यन्त अयोगक्रिया का त्याग और नियम यानी घड़ी, पल, प्रहर, पक्ष, मास, चातुर्मास, वर्ष आदि का सवर। साधु यम-नियमादि मे तत्पर है, महा शान्तचित्त है, देहादिक बाह्य वस्तुओ मे उदासीन हुआ है और समाधि यानी निर्विकल्प दशा को प्राप्त हुआ है, जीव मात्र के लिए जिसके मन मे दया है, जिसका आहार शास्त्रोक्त है और अल्प है, जिसने निद्रा को भी जीत लिया है और अध्यात्म के सार आत्मस्वभाव का जिसने निश्चय कर लिया है, ऐसा साधु निरन्तर आत्मानुभव मे ही मगन रहता है।

जो ऐसे (उपर्युक्त) गुणो से मण्डित मुनिराज हैं वे निश्चय से मुक्ति के पात्र होते हैं -

निज रस मे लीन वीतराग मुनि मुक्ति के पात्र होते हैं

(मालिनी छन्द)

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।।२२६।।

अर्थ — जिन्होने हेयोपादेय का समस्त स्वरूप जान लिया है, जो हिंसादि सब पापो से दूर हैं, आत्मकल्याण के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे जिनका चित्त लीन है, इन्द्रिय-विषयो से जिनकी निवृत्ति हो गई है, जो स्व-पर कल्याणकारी वचन बोलते हैं, सर्व सङ्कल्प-विकल्पो से रहित हैं, सर्व प्रपचो से रहित ऐसे वे महापुरुष मुक्ति के भाजन क्यो न होगे ? निस्सन्देह वे शिवसुख के भाजन होगे।

भावार्थ — जो सर्व प्रपचो से रहित होते हैं, वे ही मुक्त होते हैं। मुक्ति का मूल एक निःप्रपचपना ही है। जो हेयोपादेय को जानकर त्याग-योग्य सब वस्तुओ को तजकर आत्मकल्याण के कारणभूत रत्नत्रय को ग्रहण कर विषयो से विरक्त होते है, वे ही भवसागर के पार होते हैं।

अब कहते है कि तू मुक्त होना चाहता है, तूने मुक्ति के लिए रत्नत्रय धारण किया है। अत अब रत्नत्रय का भंग न हो, उसके भग से भयभीत होना और जगत् को विषयासक्त देखकर स्वय विषयासक्त मत होना -

रत्नत्रय रूप धन की इन्द्रियचोरो से रक्षा करनी चाहिए

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां पर-
स्तेषा भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं,
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वं तन्मुहुर्जागृहि।।२२७।।

अर्थ — विषय रूपी प्रभु यानी राजा के दासत्व को प्राप्त अविवेकीजन गुण और दोष के विचार से शून्यचित्त वाले हैं, उनका आत्मा भी पराधीन है, उनके रग-ढंग देखकर हे विवेकी! तू भूल मत कर। वे तो सम्यग्ज्ञानरूपी धन से रहित दरिद्री हैं सो इनका क्या नष्ट होगा ? जबकि तेरे पास तो तीनो लोको को प्रकाशित करने-वाला रत्नत्रय रूप धन है इसलिए तू भय करना। इन्द्रिय

रूपी चोर तेरे आस-पास चारो ओर घूम रहे हैं, उनके द्वारा तेरा यह रत्नत्रय रूप धन न चुरा लिया जावे, ऐसा प्रयत्न कर। वे तेरे ज्ञान-ऐश्वर्य को न ग्रहण कर सके, ऐसा कर; सदा जाग्रत रह।

भावार्थ – जैसे ससार मे जो निर्धन पुरुष हैं, वे तो जागते रहो या सोते रहो, उन्हे चोरो से कुछ डर नही लगता, क्योकि चोर उनका क्या चुरा लेगे, परन्तु जो रत्नत्रयादि धन से परिपूर्ण हैं, उन्हे चोरो से सदा सावधान रहना चाहिए। सावधान न रहे तो चोर उन्हे लूट ले। उसी प्रकार अविवेकी जीव तो रत्नत्रय रूप धन से रहित है उसे इन्द्रिय रूपी चोरो से भय नही लगता। इसलिए वह प्रमादी होकर विषयो का यथेष्ट सेवन करता है। परन्तु तू तो रत्नत्रयरूप धन का धारक है इसलिए इन्द्रियरूप चोरो से सावधान रह। यदि प्रमादी होगा तो अपना निज धन खो देगा क्योकि वह चुरा लिया जावेगा।

आगे शिक्षा देते है कि जो विषयो मे तेरा मोह बीत गया है तो तू कमण्डलु, पिच्छिका आदि सयम के उपकरणो मे भी अनुराग मत कर -

पीछी-कमण्डलु मे भी राग मत कर

(वसन्ततिलका छन्द)

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो,
मुह्येत् वृथा किमिति संयमसाधनेषु।
धीमान् किमामयभयात् परिहत्य भुक्तिं,
पीत्वौषधिं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम्।।२२८।।

अर्थ – हे बुद्धिमान्! जब मनोज्ञ स्त्री आदि पदार्थों के प्रति भी तेरा मोह नष्ट हो गया है, तब तू सयम के साधनभूत पीछी-कमण्डलु आदि मे व्यर्थ मोह क्यो करता है ? जैसे क्या कोई रोग के भय से भोजन को छोड़कर मात्रा से अधिक औषधि लेकर अजीर्ण करता है ? कदापि नही करता।

भावार्थ – जैसे कोई बुद्धिमान् अर्जीर्ण होने के भय से भोजन छोड़कर पाचक औषधि भी मात्रा से अधिक नही लेता। वैसे ही ज्ञानी भी कनक-कामिनी आदि परिग्रह को छोड़कर सयम के साधनभूत पीछी-कमण्डलु आदि मे ममत्व नही करता। ममत्व तो बन्ध का कारण है। जो ममता करता है वह वीतराग भाव को प्राप्त नही करता। वह तो सरागी होकर महाव्रतो को भङ्ग करता है।

आगे कहते हैं कि सर्व पदार्थो मे निर्मोही मुनि अपने आपको इस प्रकार कृतार्थ मानता है -

मुनि की कृतार्थता

(पृथ्वी छन्द)

तप. श्रुतमिति द्वय बहिरुदीर्य रूढं यदा,
कृषीफलमिवालये समुपलीयते स्वात्मनि।

कृषीवल इवोज्झितः करणचौरबाधादिभिः,
तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः।।२२९।।

अर्थ — जैसे किसान खेत मे बीज बोकर अनाज की वृद्धि करता है, सो चोरादिक की बाधा से रहित होकर अपने घर मे अन्न ले आवे तब अपने आपको कृतार्थ मानता है। वैसे ही साधु भी तप और श्रुत की वृद्धि से, इन्द्रियादिक चोरो की बाधा से रहित आत्मस्वरूप मे लीन होता है तब अपने आपको कृतार्थ मानता है। वह किसान भी अपने कर्त्तव्य की कृतार्थता तब ही मानता है जब घर मे अन्न निराबाध आ जाता है। धीर-वीर साधु भी अपने सयम की कृतार्थता तब ही मानता है जब इन्द्रियादिक चोरो की बाधा से रहित तप और श्रुतरूप बीज के फलज्ञान रूप अन्नकण को अपने मे लय करता है।

भावार्थ — तप-श्रुत का फल आत्मज्ञान है। इसमे बाधक इन्द्रियादिक चोर हैं। उनसे ज्ञान हरण नही किया जा सकता। वह ज्ञान अपने स्वरूप मे लीन हो तब मुनि अपने आपको कृतार्थ जाने। जैसे किसान ने बहुत परिश्रमपूर्वक खेती की है परन्तु वह अपने आपको कृतार्थ तभी मानता है जब वह निर्विघ्नतया अन्न अपने घर मे ले आवे।

आगे कहते हैं कि किसी के मन मे ऐसा विचार हो कि मुझे तो श्रुतज्ञान से समस्त अर्थ का परिज्ञान है अत आशारूपी शत्रु मुझमे कुछ भी विघ्न करने मे समर्थ नही है, उसे भी आशारूपी शत्रु से निर्भय रहना योग्य नही है। श्रीगुरु शिष्य को ऐसी शिक्षा देते हैं -

ज्ञानी को भी आशा के कारण अशान्ति होती है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं,
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाऽऽशाद्विषम्।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडव',
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्ति कुतः।।२३०।।

अर्थ — 'यह आशा रूपी शत्रु मुझ ज्ञानी के लिए किसी प्रकार का विघ्नकारी नही है', इस प्रकार ज्ञान के गर्व से आशा रूप शत्रु को अल्प नही गिनना (अर्थात् निर्बल मत मानना)। तीनो लोको के अद्वितीय शत्रु महाभयकारी आशा शत्रु को सर्वथा दूर ही करना। दृष्टान्त कहते हैं कि देखो, जिस समुद्र मे अगाध जल है उसे बड़वानल बाधा उपजाता है, उसको सोख लेता है। इसलिए इस जगत् मे जिसे शत्रु दबाये रखता है उसे शान्ति कैसे हो सकती है ? (कदापि नही) जिसके रंचमात्र भी शत्रु नही, उसे ही निराबाध जानो। सो जिसके ऐसा (आशा रूप) प्रबल शत्रु हो तो इसके रहते उसे शान्ति कहाँ से प्राप्त हो सकती है ? (बिल्कुल नही प्राप्त होती)।

भावार्थ — जैसे समुद्र तो अगाध है और बड़वाग्नि थोड़ी है तो भी उसके जल को सोख लेती है। इसलिए रंचमात्र भी शत्रु के सर्वथा अभाव बिना निराबाधता नही होती तो फिर प्रबल शत्रु के रहते निराबाधता कैसे हो सकती है ? उसी प्रकार आशा के अभाव बिना निराकुलता कैसे हो सकती है ? और कदाचित् तू यह समझे कि मेरे संयमादि गुण प्रबल हैं, आशा मेरा क्या करेगी ? तो तू ऐसा मत विचारना क्योंकि समुद्र अति गम्भीर होता है उसे भी रचमात्र बड़वानल ही सोख लेता है। तब आशा तो तीव्र अग्नि रूप है, वह तो सयम रूप समुद्र को अवश्यमेव सोख लेगी इसलिए आशा का सर्वथा नाश हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

यदि तू आशारूप शत्रु को निर्मूल करना चाहता है तो मोह का सर्वथा परित्याग कर -

मोह छोड़, वीतराग भाव को प्राप्त कर

(आर्या छन्द)

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य।।२३१।।

अर्थ — मोह से युक्त हृदय वाला पुरुष यद्यपि शास्त्रज्ञान और शुभाचरण से मण्डित है तो भी प्रशसनीय नही। जैसे दीपक जो स्नेह-तेल सहित होता है वह काजल उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह कहो या रागभाव कहो - उससे युक्त पुरुष के यह राग पापरूप अशुभ मलिन कर्मों को ही उत्पन्न करने-वाला है। ऐसा जान कर जगत् से स्नेहभाव - रागभाव का त्याग करना।

भावार्थ — जैसे तेल के सम्बन्ध से युक्त दीपक प्रकाश तो करता है परन्तु काजलरूप कलक भी उत्पन्न करता है, वैसे ही तेरा शुभाचरण रूप दीपक, रागभाव रूपी तेल से युक्त होने पर पापरूप कलक को पैदा करता है। इसलिए देहादिक से राग छोड़। जैसे तेल के बिना अग्नि सदैव प्रकाशरूप रहती है और काजल रूप कलक भी नही पैदा करती वैसे ही तू भी वीतराग भाव रूप रह जिससे कर्म-कलक नही उत्पन्न हो।

आगे कहते हैं - जगत् के स्नेह से बॅधा हुआ तेरा चित्त इष्ट - अनिष्ट पदार्थो मे राग-द्वेष कर क्लेश भोगता है -

रागद्वेष से रहित होकर समभाव को अपना

(अनुष्टुप् छन्द)

रतेररतिमायात. पुना रतिमुपागत.।
तृतीयं पदमप्राप्य, बालिशो वत सीदसि।।२३२।।

अर्थ — रे अज्ञानी! तू विषयो की रुचि से अरुचि मे आता है। और फिर इन्ही से रुचि करने लगता है। ऐसा करते हुए संसार से उदासीनता रूप वैराग्य के तीसरे पद को पाये बिना तू दु:खी हो रहा है। यदि तू कल्याण का इच्छुक है तो ऐसा जानकर रागद्वेष को छोड़ और वैराग्यभाव को भज।

भावार्थ — स्त्री आदिक विषयो को पहले तो रुचिपूर्वक भोगता है और फिर तत्काल ही उनसे अरुचि हो जाती है। फिर उन्ही से रुचि करने लगता है। ऐसा करते हुए वाञ्छारूप व्याधि से सदा व्याकुल ही बना रहता है। रुचि और अरुचि से रहित वीतरागभाव को न पाते हुए खेद-खिन्न रहता है इसलिए रागद्वेष को छोड़, समताभाव की उपासना कर, उसी का अवलम्बन कर जिससे सुखी हो सके।

आगे कहते है - अनेक दु खो से सन्तप्त तू मोक्षसुख के अभाव से लवलेश (किंचित्) मात्र विषयसुखो से अपने को सुखी मान रहा है, सो वृथा है -

विषयसुख सन्तापकारी है

(अनुष्टुप् छन्द)

तावद्दु:खाग्नितप्तात्माऽय:पिण्ड इव सीदसि।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि।।२३३।।

अर्थ — तू लोह के पिण्ड की भाँति दु:खरूप अग्नि से तप्तायमान है। जब तक तू मोक्ष सुख रूप समुद्र मे मग्न नही होगा तब तक इन्द्रियो से उत्पन्न लेशमात्र विषय सुखो से तेरा अपने को सुखी मानना व्यर्थ ही है।

भावार्थ — जैसे लोहे के उष्ण गोले को पूर्ण भरे हुए जल मे डुबोने पर ही वह गर्मी से रहित होता है, यदि थोड़े से जल से छींटे मारे तो उसकी गर्मी नही मिटती अपितु वह जल ही भस्म हो जाता है। उसी प्रकार जीव रूप गोला दु ख रूप अग्नि से सन्तप्त हुआ, जब तक निर्वाण के सुख रूप समुद्र मे मग्न नही होता, तब तक उसका दु ख रूपी आताप नही मिटता। देवपद, राज्यपद रूप अल्पसुखो से अपने को सुखी मानना व्यर्थ है। इस सुखो से कभी दु ख रूपी आताप नही मिटता। ये रंचमात्र सुख क्षण मे विलीन हो जाते है।

आगे कहते है कि ज्ञान को अङ्गीकार करने पर ही निवृत्ति-सागर मे मग्न हुआ जा सकता है। इसलिए ज्ञानादि उपायो से उसको अङ्गीकार करो -

रत्नत्रय की पूर्णता से मोक्ष की प्राप्ति

(अनुष्टुप् छन्द)

मङ्क्षुमोक्षं सु-सम्यक्त्वसत्यङ्कारस्वसात्कृतम्।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु।।२३४।।

अर्थ — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता रूप धन से तू शीघ्र ही निर्वाण को अपने हस्तगत कर। सत्य रूप मुक्ति को अपने वश मे करने पर ही कृतार्थता सिद्ध होगी।

भावार्थ — जैसे कोई पुरुष अपनी इष्ट वस्तु को धनादि देकर अपने अधिकार मे कर लेता है वैसे ही तू रत्नत्रय रूप धन से मोक्ष पदार्थ को अपने आधीन कर जिससे सुखी हो सके।

आगे कहते हैं - सरागभाव की उत्कृष्टता लिये प्रवृत्ति और बीतरागता भाव की उत्कृष्टता लिये निवृत्ति - इन दोनो की अपेक्षा यह जगत् कैसा है ? सो दर्शाते हैं -

प्रवृत्ति का फल ससार और निवृत्ति का फल निर्वाण है।

(उपेन्द्रवज्रा छन्द)

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं ,
निर्वृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम्।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या,
निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाङ्क्षी।।२३५।।

अर्थ — यह सम्पूर्ण जगत् निवृत्ति की अपेक्षा तो भोगने योग्य नही, त्यागने योग्य है और प्रवृत्ति की अपेक्षा सम्पूर्ण जगत् भोगने योग्य है। कैसा है यह जगत् ? अद्वैत यानी एकरूप है। विषय-कषायो मे प्रवृत्ति को प्रवृत्ति कहते हैं और उनकी निवृत्ति को निवृत्ति कहते हैं। इन दोनों की अपेक्षा अभोग्य रूप और भोग्य रूप जानकर प्रवृत्ति को छोड़ो। मोक्षाभिलाषियो को निवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। प्रवृत्ति का फल संसार और निर्वृत्ति का फल निर्वाण है।

भावार्थ — यह जगत् अविवेकियो को तो राग के वशीभूत होने के कारण भोग्य रूप भासित होता है और विवेकियो को ज्ञानभाव से त्यागरूप प्रतीत होता है। इसलिए जो तू मोक्षाभिलाषी है तो छोड़ने का ही अभ्यास कर जिससे मुक्ति हो सके।

आगे कहते हैं कि निवृत्ति का अभ्यास कब तक करना -

निवृत्ति का अभ्यास कब तक ?

(अनुष्टुप् छन्द)

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्।।२३६।।

अर्थ — जब तक तजने योग्य मन-वचन-कायादिक का सम्बन्ध न छूटे तब तक निवृत्ति का ही अभ्यास करना चाहिए और जब परवस्तु का अभाव हो जाए तो न प्रवृत्ति और न निवृत्ति, केवल शुद्धस्वरूप मात्र है। पर-पदार्थों से सर्वथा रहित होना वही अविनाशी पद है।

भावार्थ — जब तक इस जीव के रागादिक पर-भावो की प्रवृत्ति है तब तक इसे निवृत्ति ही का अभ्यास करना चाहिए। और जब परवस्तु के सम्बन्ध से रहित होकर मुक्त हो जाएगा तब प्रवृत्ति

और निवृत्ति दोनों से ही प्रयोजन नहीं रहेगा। जैसे जब तक रोग है तब तक औषधि का सेवन करना कर्तव्य है। रोग का अभाव होने पर औषधि से कोई मतलब नही। वैसे ही जब तक प्रवृत्ति है तब तक उसका निवारण करने के लिए निवृत्ति का अभ्यास है और प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव होने पर निवृत्ति से भी कोई मतलब नही।

आगे कहते हैं कि प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है और निवृत्ति का स्वरूप क्या है ? और इन दोनो का मूल कारण क्या है ?

रागद्वेष को मिटाने का उपाय

(अनुष्टुप् छन्द)

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत्।।२३७।।

अर्थ — राग और द्वेष ये ही प्रवृत्ति हैं और इनका निषेध ही निवृत्ति है। ये दोनो बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से होते हैं इसलिए धन-धान्यादि बाह्यपदार्थों का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ — रागादिक की प्रवृत्ति का मूल कारण पर-वस्तु का सम्बन्ध है। इसलिए निवृत्ति के लिए देहादिक परद्रव्यों से ममता छोड़नी चाहिए। इनके कारण पर-वस्तु को अनादि से अपना माना परन्तु पर-वस्तु इनकी हुई नही। इसलिए इनको अपना जानकर व्यर्थ ही खेद-खिन्न होता है। अपने स्वरूप को जानकर पर से प्रीति तजना ही योग्य है।

आगे कहते हैं कि परिग्रह का परित्याग करने-वाला मैं इस प्रकार की भावना भाता हूँ -

उदासीन भावना का स्वरूप और विधि

(अनुष्टुप् छन्द)

भावयामि भवावर्त्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः।।२३८।।

अर्थ — मैं संसार रूप भ्रमण के अभाव के लिए पूर्व में न भावित सम्यग्दर्शनादि भावनाओ को भाता हूँ और जो मैंने पूर्व में मिथ्यादर्शनादि भावनाये अनादिकाल से भायी थी अब उन्हें नही भाता हूँ।

भावार्थ — मिथ्यादर्शनादि भावनायें भव-भ्रमण का कारण हैं, अब से पहले मैं इन्ही को भाता रहा हूँ, अब इनकी भावना नहीं करता। सम्यग्दर्शनादि भावनायें मोक्ष का कारण हैं उन्हें आज तक नहीं भाया, सो अब भाता हूँ।

आगे कहते हैं कि कौन-सी वस्तु हितकारी है और कौन-सी अहितकारी ?

हेय और उपादेय

(अनुष्टुप् छन्द)

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट्त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम्।।२३९।।

अर्थ – शुभ यानि उत्तम वचन, करुणारूप मन और संयम रूप काया ये प्रशंसा योग्य हैं। और अशुभ यानी कुवचन, निर्दय चित्त, अव्रत रूप काया ये निन्दा योग्य हैं। इन दोनों से पुण्य-पाप होते हैं। शुभ से पुण्य, अशुभ से पाप। पुण्य से सुख, पाप से दु ख। शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, सुख-दु:ख ये छह हुए। इनमे आदि के तीन शुभ, पुण्य, सुख ये तो हितकारी होने के कारण आदरणीय हैं और अन्त के तीन अशुभ, पाप, दु ख ये अहितकारी होने से तजने योग्य हैं।

भावार्थ – निश्चयनय से विचार करें तो इस जीव को एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है और शुभ-अशुभ दोनों ही हेय हैं। तथापि व्यवहारनय से विचार करे तो अशुभ तो सर्वथा ही छोड़ने योग्य है क्योंकि यह सर्वथा मोक्षमार्ग का घातक है। और शुभोपयोग यद्यपि मोक्ष का साक्षात् कारण नही है परन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण है। इसलिए किसी अपेक्षा प्रथम अवस्था में उपादेय है। शुभ परिणामो से पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य से स्वर्गादिक का सुख प्राप्त होता है। अशुभ परिणामों से पाप का बन्ध होता है और पाप से नरक-निगोदादिक का दु ख प्राप्त होता है। अत किसी प्रकार से अशुभोपयोग उपादेय नही है।

अब अशुभादि तीनों के त्याग का अनुक्रम बताते हैं -

त्याग का अनुक्रम

(अनुष्टुप् छन्द)

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वत. स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते, प्राप्नोति परमं पदम्।।२४०।।

अर्थ – सबसे पहले तो अशुभ अहित छूटता है, इसका अभाव होने पर पाप और दु ख से मुक्ति मिलती है। फिर शुद्धोपयोग के प्रभाव से शुभ भी छूटता है। शुभ के छूटने से पुण्य और स्वर्गादिक सुख भी नही होता। कारण का अभाव होने पर कार्य का ही अभाव हो जाता है। जब शुभ ही छूट जाता है तब परम वीतरागभाव रूप शुद्धोपयोग में ठहर कर परमपद को प्राप्त होता है। परमपद शुभ-अशुभ दोनो से रहित है।

भावार्थ – आत्मा का उपयोग दो प्रकार का है। एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध के दो भेद होते हैं - अशुभ और शुभ। अशुभ से पाप और पाप से नरकादि दु ख होते हैं अत. अशुभ तो सर्वथा ही त्याज्य है। शुभ से पुण्य और पुण्य से स्वर्गादिक सुख होता है अत अशुभ के निवारण के

लिए शुभ का ग्रहण होता है। पीछे शुद्धोपयोग होने पर शुभ भी छूटता है। शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही यह जीव मुक्त होता है।

आगे चार्वाक प्रश्न करता है कि आत्मा हो तो परमपद की प्राप्ति हो, जब आत्मा ही नही है तो परमपद कैसे हो ? आत्मा को गर्भ आदि (से) मरण पर्यन्त किसी ने देखा नही। वस्तु हो तो दिखाई पड़े। यह तो चार्वाक कहता है। सांख्य कहता है कि आत्मा तो सदा मुक्त ही है। पहले अशुभ को छोड़ना फिर शुभ को छोड़ना और परमपद पाना, यह तो अयुक्त है। श्री गुरुदेव दोनो का समाधान करते है -

चार्वाक और साख्य की शकाओ का समाधान

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै ,
ते क्रोधादिकृता प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्,
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषतायोगै. क्रमान्मुच्यते।।२४१।।

अर्थ — यह आत्मा जातिस्मरण करके अपने पूर्वभव देख लेता है और भूतादिक जीव अपने पूर्वभव कहते हैं, इससे जीवो को पूर्वभव की प्रतीति होती है। इसलिए आत्मा है, वह आत्मा अनादिकाल से कर्मो से बँधा हुआ है। वे कर्म बन्ध आस्रव करते हैं। आस्रव क्रोधादिक से होता है। क्रोधादिक प्रमादजनित हैं। प्रमाद हिंसादिक अव्रतो के कारण हैं। और अव्रत मिथ्यात्वोपचित अर्थात् मिथ्यात्व से पुष्ट है। अत आत्मा मिथ्यादर्शनादि से मलिन है। काललब्धि पाकर किसी एक मनुष्यभव मे सम्यक्त्व, व्रत, विवेक, नि कषायता इनके योग से अनुक्रम से मुक्ति होती है।

भावार्थ — चार्वाक तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व ही नही ? उत्तर - यदि आत्मा न हो तो ऐसा सन्देह भी किसके होवे कि आत्मा नही है। और यदि आत्मा नही होती तो व्यन्तरादिक ऐसा क्यो कहते है कि मै अमुक था और अगले भव की तथा इस भव की भी पहले की बाते किसको याद आवे। और यदि आत्मा ही न हो तो पुण्य-पाप का फल कौन भोगे ? आत्मा न हो तो अहकार-ममकार किसके हो ? इसलिए आत्मा है यह बात तो निसन्देह सत्य सिद्ध हुई। साख्य कहते है कि आत्मा तो सर्वथा शुद्ध ही है। उत्तर - यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही होवे तो ससार-भ्रमण कैसे होवे ? और कोई सुखी, कोई दु खी, कोई नीच, कोई उच्च ऐसा भेद किसलिए होता है ? और यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही होवे तो फिर उसको शुद्ध करने के लिए तपश्चरणादि साधन किसलिए कहे ? इसलिए यह निश्चय हुआ है कि ससारावस्था मे तो आत्मा अशुद्धतायुक्त है। सम्यग्दर्शनादि उपायो से अशुद्धता को नष्ट करे तब शुद्ध होता है।

आगे कहते हैं कि जो पुरुष शरीरादिक मे नि:स्पृह हैं उन्हे ही नि स्पृह जानो, अन्य को नही -

मुक्ति मे बाधक कारण - रागभाव

(अनुष्टुप् छन्द)

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् काशा तपः फले।।२४२।।

अर्थ — यह शरीर मेरा और मैं इसका, उपद्रव करने वाली यह प्रीति ईति के समान अनादि से लगी हुई है। जब तक इस शरीर रूपी क्षेत्र मे आप स्वयं क्षेत्री, स्वामी हो रहा है तब तक तप के फल मोक्ष की क्या आशा करनी ?

भावार्थ — यह तन मेरा क्षेत्र और मैं इसका क्षेत्री यानी स्वामी। यह मेरा, मै इसका, उपद्रव करने-वाली ऐसी ईति समान प्रीति जब तक है तब तक मोक्ष की क्या आशा ? अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, टिड्डी, सूआ, अपना कटक और पर का कटक ये सात उपद्रवकारी ईतियाँ जब तक है तब तक किसान को अन्न मिलने की क्या आशा ? वैसे ही जब तक जीव के देह मे स्नेह-राग है तब तक मुक्ति की क्या आशा ?

आगे कहते है - प्रीति के योग से इस जीव मे जड़ से (पुद्गल शरीर से) एकता की बुद्धि उत्पन्न होती है, यही ससार का कारण है, इस प्रीति के अभाव से मुक्ति (मोक्ष) है, सो दर्शाते है -

भेदविज्ञान से मोक्ष

(अनुष्टुप् छन्द)

मामन्यमन्यं मा मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्मि न।।२४३।।

अर्थ — भ्रान्ति के कारण अपने को अन्य जो कायादिक है उन रूप जाना और कायादिक को अपने रूप जाना, इसी विपरीत ज्ञान से भवसमुद्र मे भ्रमता रहा। अब तू यह जान कि मैं पर-पदार्थ नही हूँ, मै मैं ही हूँ, पर-पदार्थ पर ही हैं, उनमे मैं नही हूँ और मुझमे वे नही है।

भावार्थ — इस जगत् मे सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव को ही धारण करते है। किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य से सम्बन्ध नही है, सब पृथक्-पृथक् है और मै अनादिकाल से मिथ्यात्वरागादिक के योग से देहादिक पर-पदार्थो को अपने जानता रहा सो वे तो तीन काल मे मेरे नही हो सकते, मै व्यर्थ ही अपनी इसी समझ से संसार मे भ्रमता रहा। अब सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से मैंने यह जाना कि जो ये अन्य पदार्थ हैं वे मैं नही हूँ, ये जड़ है मैं चैतन्य हूँ, मेरा इनका कैसा सम्बन्ध ? यही ज्ञान (भेदज्ञान) कल्याण का कारण है।

आगे कहते हैं कि भ्रान्ति दूर होने पर यह निश्चय होता है कि जो कायादिक को अनुरागबुद्धि से देखता है उसके वह देखना कर्मबन्ध का निमित्त कारण होता है और वैराग्य बुद्धि से देखना कर्मबन्ध के विनाश का कारण होता है -

दृष्टि और कार्य मे भेद तो फल मे भी भेद

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

बन्धो जन्मनि येन येन निविडं निष्पादितो वस्तुना,
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मन. साम्प्रतम्।
तत्तत् तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो,
दुर्बोध हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम्।।२४४।।

अर्थ — इस समार मे बाह्य पदार्थों मे जिसकी अद्वितीय प्रीति है, उसके जिन-जिन मन, वचन, कायादि वस्तुओ से पहले अत्यन्त गाढा कर्मो का बन्ध हुआ था, और अब जो वैराग्य की सीमा को प्राप्त हुआ जिससे अन्य पदार्थों के प्रनि 'पर' ज्ञानरूप बुद्धि उत्पन्न हुई है तो अब वे ही वस्तुये बन्ध का विनाश करने के लिए साधन रूप हो गई, इसलिए जिस अज्ञान से मै रागादिक रूप परिणत हुआ, वह अज्ञान तो पृथक् ही है और विवेकियो का अपूर्व प्रवीणपना भी पृथक् ही है।

भावार्थ — जब देहादिक पर-वस्तुओ को रागबुद्धि से देखता था तब रागी के वे ही वस्तुये बन्ध का कारण थी और जब वैराग्यबुद्धि से देखने लगा तब वे ही कायादिक वस्तुये मुक्ति की साधनरूपा हो गईं। इसलिए रागभाव को छोड़कर वीतरागभाव का प्रयत्न करना।

आगे बन्ध और बन्ध का नाश जिस भाँति होता है वही अनुक्रम से दर्शाते हैं -

बन्धव्युच्छेद का क्रम

(अनुष्टुप् छन्द)

अधिक· क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्सम.।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मत.।।२४५।।

अर्थ — कही तो कर्म का बन्धन अधिक है और निर्जरा अल्प। कही बन्ध अल्प है और निर्जरा विशेष। कही बन्ध और निर्जरा समान हैं। कही केवल निर्जरा ही है। यह बँधने और छूटने का अनुक्रम है।

भावार्थ — इस जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान मे तो कर्मों का बन्ध बहुत होता है, निर्जरा तुच्छ होती है। पचम गुणस्थानादि आगे के गुणस्थानो मे बन्ध थोड़ा होता है, निर्जरा बहुत होती है और चौथे गुणस्थान मे बन्ध और निर्जरा दोनो समान होते हैं। कषायरहित जीवो के निर्जरा ही होती है, बन्ध नही है। यह बन्ध और निर्जरा की परिपाटी कही है।

आगे बताते हैं कि जिसके कर्म अपना कार्य करने मे सामर्थ्य रहित हो गए - कर्मों का कार्य है नवीन शरीर उत्पन्न करना सो अब उत्पन्न नहीं कर सके - जिसके ऐसी दशा हो गई, वही योगी है -

कर्मक्षय से मोक्ष

(अनुष्टुप् छन्द)

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं, न तस्य पुनरास्रवः।।२४६।।

अर्थ — जिस विरक्त पुरुष के पुण्य और पाप - अपना फल दिये बिना ही खिर गये, पुण्य का फल स्वर्ग और पाप का फल नरक, सो ये कर्म जिसको नही दे सके वही पुरुष योगी है, जिसके निर्वाण ही होता है, फिर (कर्मों का) आस्रव नही होता।

भावार्थ — पुण्य-पाप ही ससार-भ्रमण के मूल कारण हैं। जैसे फल का मूल पुष्प है, यदि पुष्प ही खिर गया तो फल कहाँ से होगा ? वैसे ही जीवो के चतुर्गति फल का कारण शुभाशुभ कर्मों का उदय है। सो महामुनि के जब शुभाशुभ कर्म ही खिर गये तो नया शरीर कैसे हो ? इसलिए उनका निर्वाण ही होता है।

आगे कहते हैं कि आस्रव का निरोध 'सवर' प्रतिज्ञा के पालन करने से होता है -

प्रतिज्ञा-पालन से सवर

(अनुष्टुप् छन्द)

महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेऽल्यामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम्।।२४७।।

अर्थ — महातप रूप तालाब को सम्यग्दर्शनादि गुणरूप जल से पूर्ण करने की प्रतिज्ञापालन के बन्धन में रंचमात्र भी हानि मत देख। (यानि प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह कर, उसमे किसी प्रकार की क्षति न हो।)

भावार्थ — जब तक पाल मजबूत रहती है तब तक तालाब मे जल रहता है। यदि पाल के रचमात्र भी छिद्र हो जाये, पाल फूट जाए तो तालाब मे जल नही रहता। वैसे ही गुणरूपी जल से भरे तप रूपी तालाब की प्रतिज्ञा रूप पाल डिग जाए तो गुणरूपी जल नही रहता।

आगे कहते हैं कि महापुरुषो के संयम रूप घर की हानि के ये कारण हैं -

बन्धमय मर्यादा कैसे टूटती है ?

दृढगुप्तिकपाटसंवृत्तिर्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः ।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः।।२४८।।

अर्थ — यतिपद रूप घर के महादृढ़ मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्तिरूप कपाट का प्रबन्ध और उत्तम वृत्ति धीरतारूप भीत (दीवार) और बुद्धि रूप नीव सब गाढी होनी चाहिए। इनमे यदि कदाचित् छोटा-सा भी व्रतभंग रूप छिद्र हो तो महाकुटिल रागादिक सर्प यतिपद रूप घर को दूषित कर देता है।

भावार्थ — जैसे घर के किवाड़ भी बहुत मजबूत और दीवार भी मजबूत और नीव भी मजबूत हो परन्तु यदि रंचमात्र (छोटा-सा) भी छिद्र हो तो सर्पादिक दुष्ट जीव उसमे निवास करने लगते हैं तब रहने वालो को निर्विघ्नता नही रहती, कभी प्राण ही चले जाएँ। वैसे ही यतिपद रूप घर के गुप्ति रूप दृढ कपाट हों, धैर्यरूप दीवार हो, बुद्धिरूप नीव हो परन्तु व्रतभग रूप अल्प भी छेद हो तो रागादिक कुटिल सर्प निवास करने लगे तो अनेक पर्यायो मे अनेक बार मरण करना पड़े।

आगे कहते हैं कि रागादिक दोषो को जीतने मे उद्यत मुनि यदि कदाचित् पर-जीवो के दोषो का कथन करे तो वह अपने ही रागादिक को पुष्ट करेगा -

परदोष-कथन से रागादिक की पुष्टि

(अनुष्टुप् छन्द)

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनै ।।२४९।।

अर्थ — अति दुर्द्धर तप से (मुनि) अपने दोषो का नाश करने मे उद्यमी हुआ है। परन्तु कदाचित् ईर्ष्या के योग से दूसरे का अपवाद करे, दूसरे के अवगुणो का कथन करे तो पर-दोष कथा रूप भोजन से (अपने) रागादि दोषो को ही पुष्ट करेगा।

भावार्थ — विवेकी पुरुषो को परायी निन्दा करनी उचित नही। और यदि कदाचित् परायी निन्दा कोई करता भी है तो जैसे रससयुक्त भोजन से देह पुष्ट होती है वैसे ही परदोष-कथन से रागद्वेषादि दोष ही पुष्ट होते हैं, उनसे मुनिपद भग होता है।

आगे कहते हैं कि दोषो को जीतकर व्रतो का आचरण करने-वाले मुनि के कर्मो के वश से कदाचित् चारित्रादि मे कोई दोष उत्पन्न हुआ और यदि अब उसके गुण प्रकट करे तो गुणों की महिमा नही होती -

अल्प दोष से भी गुणवान् का पद कलकित होता है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात् क्वचित् -
जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोऽप्यलम्।

द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलंकं जगद् -
विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोऽप्यगात्तत्पदम्।।२५०।।

अर्थ — सर्वगुणो की खान महापुरुष (मुनि) के पूर्व कर्म के कारण किसी मूलगुणादि मे चन्द्रमा के लांछन समान अल्प भी दोष उत्पन्न हो तो उसे देखने मे अन्ध यानी जगत् के अविवेकी मूढ़दृष्टि लोग भी समर्थ होते हैं अर्थात् वह दोष जगत् की दृष्टि मे अवश्य आता है। अल्प भी दोष से गुणवान् का पद कलंकित हो जाता है, जैसे चन्द्रमा का कलक चन्द्रमा की प्रभा ही ने प्रकट किया है तभी समस्त जगत् देखता है, कोई चन्द्रमा के स्थान पर तो देखने गया नही। वैसे ही महापुरुष का अवगुण महापुरुष के गुणो ने ही प्रकट किया है, कोई उनके स्थान पर जाकर देखकर नही आया।

भावार्थ — जहाँ अनेक गुण होते हैं वहाँ दोष शोभा नही देता। जैसे चन्द्रमा की प्रभा मे कलक शोभा नही देता, वह प्रकट भासित होता है, वैसे ही मुनिपद मे अवगुण शोभित नही होता, वह प्रकट भासित होता है। लोग कहते हैं देखो, इतने गुणो मे यह दोष कैसे शोभे और कोई कहते है जहाँ अनेक गुण होते हैं वहाँ अल्प योग का क्या कथन करना ? अपने लिए तो पराये गुण ही ग्रहण करने चाहिए। समाधान - उच्चपद मे नीच क्रिया शोभित नही होती। जैसे उपवास करके कोई एक कण भी खावे तो लोग उसे भ्रष्ट कहते है जबकि अव्रती निरन्तर भोजन करता है, उसकी कोई निन्दा नही करता। उसी प्रकार अव्रती मे अनेक दोष हैं तो भी उसकी कोई चर्चा नही करता जबकि सयमी मे रचमात्र भी दोष हो तो उसकी निन्दा होती है कि ऐसी पदवी मे रहकर ऐसा नीच कार्य किया। अत पदवी के अनुसार ही क्रिया करनी उचित है।

आगे कहते हैं कि असूया यानी ईर्ष्या, दूसरो के गुणो मे द्वेष का आरोप और अविद्यमान अवगुणो का उन्मेष करती है। अपने अविद्यमान गुणो को प्रकट करती है। अपनी महिमा के लिए (योगी) तेला आदि अनेक उपवास करता है, अधिक विवेक दशा होने पर तब यह वृत्ति स्वय ही उसे ही अच्छी नही लगती, अविवेकियो को ही अच्छी भासित होती है -

ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि मे भेद

(अनुष्टुप् छन्द)

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते।।२५१।।

अर्थ — पहले जो-जो आचरण किया, दूसरो के दोष प्रकट किये, अपने गुणो का बखान किया सो सब योगीश्वर के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट ज्ञानदशा के होने पर अज्ञान चेष्टा रूप प्रतीत होता है।

भावार्थ — दूसरो के अवगुणो का और अपने गुणो का प्रकटीकरण अज्ञानियो को बुरा नही लगता, ज्ञान से योगियो को ही बुरा लगता है।

आगे कहते हैं कि जो तप तो उत्कृष्ट करते है और उत्तम ज्ञान की परिणति से रहित हैं और उनके भी शरीरादिक मे ममता बुद्धि होती है, उससे क्या होता है ? वही कहते हैं -

ममता के सद्भाव मे आशारूपी लता नही सूखती

(हरिणी छन्द)

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते,
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता।
इति कृतधिय· कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तर,
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहा·।।२५२।।

अर्थ — निश्चय से महातपस्वियो के भी आशारूपी बेल की शिखा (चोटी, ऊर्ध्वभाग) तरुणाई पर रहती है (लहलहाती रहती है)। जब तक मन रूप जड़ मे ममतारूपी जल का आगमन रहता है तब तक आशारूपी लता कैसे सूख सकती है। ऐसा जानकर विवेकी पुरुष अपनी देह मे भी अत्यन्त उदासीनता धारण करता है, उसको जीने-मरने की भी वाञ्छा नही होती। यद्यपि इस शरीर से चिरकाल का परिचय है फिर भी मुनि के उससे ममता नही होती, वह देह के प्रति नि स्पृह होता है। कष्टसाध्य त्रिकालयोगादिक से निरन्तर अपने शरीर का दमन ही करता है। शीतकाल मे जल के किनारे, उष्णकाल मे पर्वत शिखर पर और वर्षाकाल मे वृक्ष के नीचे निवास करना त्रिकाल योग कहा जाता है।

भावार्थ — जब लता की जड़ अशुद्धभाव से ममतारूपी जल से सजल रहती है तो आशारूपी लता की शिखा सदा लहराती ही रहेगी।

आगे इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हैं -

देहादि सभी वस्तुये आत्मा से भिन्न है

(रथोद्धता छन्द)

[1]क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनो ।
भेद एव यदि भेदवत्स्वऽलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा।।२५३।।

अर्थ — जब जीव और शरीर ही मे निश्चय से भेद है तो अत्यन्त भिन्न जो पुत्र-कलत्रादि अथवा शिष्यादि बाह्य वस्तुयें हैं, उनके सम्बन्ध मे क्या कहा जाए ? ये तो प्रकट ही भिन्न है। जीव और देह यद्यपि क्षीर-नीर (दूध और पानी) की भाँति अभेद रूप से अवस्थित हैं तथापि निश्चय से तो भिन्न ही हैं।

---

१ जल-पय ज्यो जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला। तो प्रकट जुदे धनधामा, क्यो ह्वै मिलि इक सुतरामा ।। छहढाला/दौलतराम

भावार्थ — तैजस और कार्माण शरीर तो सब संसारी जीवो के सदा लगे ही रहते हैं कभी पृथक् होते नही। जब जीव मुक्त होता है तभी वे छूटते हैं। आहारक शरीर कभी किसी मुनि के ही होता है। मनुष्य-तिर्यञ्चो के औदारिक और देव-नारकियो के वैक्रियिक शरीर होता है। इनका सम्बन्ध होता है, छूटता भी है। जीव के शरीर का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जीव और शरीर दूध और पानी की भॉति परस्पर मिले हुए हैं फिर भी वे भी वे जुदे-जुदे है, तो पुत्र, कलत्रादिक और शिष्यादि की तो क्या बात, वे तो प्रकट ही भिन्न हैं। ऐसा जानकर सबसे नेह छोड़ो।

शरीर के सयोग से आत्मा मे जो होता है, सो दर्शाते हैं -

देह से ममत्व छोड़ो

(अनुष्टुप् छन्द)

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः।।२५४।।

अर्थ — कल्याण के इच्छुक महामुनि ऐसा जानकर देह से स्नेह तज कर आनन्द रूप हो गए। कैसा जानकर ? 'जैसे अग्नि के संयोग से जल तप्त (गर्म) हो गया वैसे ही देह के सयोग से मैं भी तप्तायमान (सतप्त-दु·खी) हुआ।' यह जानकर कल्याणाकाक्षी महामुनि देह मे ममत्व छोड़कर आनन्द रूप हो गए।

भावार्थ — इस जगत् मे यह जीव जितने दु ख क्लेशादि भोगता है, वे सव शरीर के सम्बन्ध से ही भोगता है। इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवो को शरीर से अनुराग छोड़ कर वीतराग भाव आचरना ही योग्य है, जिससे फिर शरीर का सम्बन्ध ही न हो।

अब शरीरादि मे ममताभाव के कारण महामोह के त्याग का उपाय कहते हैं -

सम्यग्योग से मोह की निवृत्ति

(अनुष्टुप् छन्द)

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुध्यति।।२५५।।

अर्थ — जिन महापुरुषो ने सम्यग्योग यानी स्वरूप मे चित्त के निरोधरूप औषधि (के सेवन) से अनादि कर्मों के संचय से हृदय मे स्थित महा-मोह का वमन कर दिया, उन्ही का परलोक शुद्ध होता है।

भावार्थ — जैसे औषधि के योग से उदर मे स्थित अजीर्ण का जिन्होने वमन कर दिया उन्ही के रोग की निवृत्ति होती है। चिरकाल से अजीर्ण के संचय से ही रोग बढा है, वह औषधि के योग

से ही दूर होता है, उसी प्रकार विभावो से वृद्धिंगत जो कर्म विकार है वह सम्यग्ज्ञान से ही निवृत्त होता है।

महामोह का अभाव होने पर जो मुनि इन वस्तुओ को इस भाँति (पर) देखते हैं कि उनके कौन (पदार्थ) सुख के निमित्त नही होते ? अपितु सब ही सुख के निमित्त होते हैं -

महामोह के हटने पर सभी पदार्थ सुख के निमित्त होते है

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युति,
दु.खं दुष्कृतिनिष्कृतिं सुखमल ससार-सौख्योज्झनम्।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्यय पश्यतां,
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः।।२५६।।

अर्थ – जो एकाकीपने को एक अद्वितीय चक्रवर्तीपना मानते हैं और शरीर विनाश को मनोवाछित पदार्थ की प्राप्ति मानते हैं, दुष्कर्म की निर्जरा और शुभ के उदय को दु ख मानते है और सासारिक सुखो के सर्वथा परिहार को सुख मानते हैं, सर्व त्याग को महान् उत्सव मानते है, सग्रह को प्राण-त्याग (मृत्यु) मानते है, जिनकी दृष्टि ऐसी हो जाती है, उनके लिए ऐसा कौन-सा पदार्थ है जो सुख का निमित्त न हो ? सब ही सुख के कारण होते हैं। इस कारण साधु सदैव सुखी ही है, यह बात सत्य है।

भावार्थ – जगत् मे जो परिग्रहादिक दु खदायक सामग्री है, उसी को जिसने सुख का कारण जानकर अङ्गीकार किया, उनके दु.ख का कारण और कौन है ? इसलिए जो सकल प्रपचो से छूटते हैं वे ही सदा सुखी रहते है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए दु ख को भोगने मे उनके चित्त मे खेद पैदा होता है तो फिर कैसा सुखीपना है ? उसका समाधान करते हैं -

योगी को खेद नही होता

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते,
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोऽरि. स्वयं,
वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे क. क्षय.।।२५७।।

अर्थ – (योगी) जो कर्म अभी उदय मे नही आया है उसे भी उग्रतप के बल से उदय मे

लाकर क्षय करते हैं तो फिर जो कर्म स्वयमेव उदय मे आ गया उसमे खेद कैसा ? मुनि के खेद का तो नाम भी नही। जैसे - जिसे जीतने की इच्छा है वह तो शत्रु पर चढाई करके भी उसे जीतता है और जो शत्रु ही युद्ध का आरम्भ कर स्वयमेव आ जावे तो उसकी क्या हानि होती है ? यहाँ तो अधिक उत्साह रहता है।

भावार्थ — जो योद्धा शत्रु पर चढाई कर उसको जीतता है तो यदि शत्रु ही चलकर स्वय आ जाए तो उसकी क्या हानि हो सकती है ? वैसे ही महामुनि तप के बल से कर्मों को उदय मे लाकर खपाते हैं, उनके यदि स्वयमेव कर्म उदय मे आ जावे, तो इसमे उनको कैसा खेद ? (अर्थात् उनको रंचमात्र भी खेद नही होता।)

आगे कहते है कि कर्मो के उदय मे जो खेद नही मानते, वे मुनि कर्मो की निर्जरा करते हुए शरीर से भिन्न होने का यत्न करते है -

महामुनि शरीर का छूट जाना भी अच्छा समझते है

(स्रग्धरा छन्द)

एकाकित्वप्रतिज्ञा. सकलमपि समुत्सृज्य सर्व सहत्वाद्,
भ्रान्त्याऽचिन्त्या: सहायं तनुमिव सहसालोच्य किञ्चित्सलज्जा·।
सज्जीभूता. स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धा.,
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहा·।।२५८।।

अर्थ — जो नृसिह - पुरुषो मे प्रधान पर्वतो की गुफाओ, गहन वन या एकान्त स्थान मे बैठकर आत्मस्वरूप का ध्यान करते हैं, जिन्होने मोह का नाश किया है, जिनकी एकाकी रहने की प्रतिज्ञा है, जो सब कुछ छोड़कर सकल परीषह सहते हैं, उनकी महिमा अचिन्त्य है, जो शरीर को सहायक जानकर तत्काल थोड़ी लज्जा को प्राप्त हुए हैं, कि यह जड़ हमारा क्या सहायक होगा ? भ्रांति से इसको अब तक सहायक जाना था, सो यह सहायक नही है। (ऐसे योगी) अपने कार्य मे स्वय उद्यमी हुए, वे पल्यकासन लगाकर निज स्वरूप का ध्यान करते है, शरीर से रहित होने की विधि का विचार करते हैं। उनका यह विचार रहता है कि यह शरीर फिर हमारे उदय मे न आवे, वे तो इसका निरादर कर छोड़ने के लिए तैयार हुए हैं।

भावार्थ — सब ससारी जीवों के शरीर का ममत्व है, सो बार-बार शरीर धारण करते हैं और जो निरादर कर शरीर को छोड़ते हैं, उनके फिर यह शरीर उदय मे नही आता, वे परमपद को प्राप्त करते हैं।

आगे कहते हैं कि कर्मों की और नये-नये तन-धारण की विधि के दूर होने का चिन्तन करते हुए जो आप परम उत्तम गुणों से सुशोभित हैं, वे (योगी) हमे पवित्र करने-वाले हो -

परम योगी हमे पवित्र करे
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तल,
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः,
ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निःस्पृहा·।।२५९।।

अर्थ – जिनकी देह मे मिट्टी लगी है सो ही आभूषण है, शिलातल ही जिनका स्थान है, कंकरीली पृथ्वी ही जिनकी शय्या है, जिन गुफाओ मे सिहादिक रहते हैं, वे ही उनके घर हैं, जिनकी बुद्धि 'ये देहादिक मेरे और मैं इनका' ऐसे विकल्पो से रहित हैं, जिनकी अज्ञानरूपी ग्रन्थि टूट गई है, ऐसे वे ज्ञानधन मोक्ष के पात्र परम नि स्पृह (योगी) हमारे मन को पवित्र करें।

भावार्थ – जो विषयाभिलाषी शरीर के अनुरागी हैं वे आप ही डूब रहे है औरो को कैसे तारे ? और जो विरक्त हैं, रागादिक से रहित हैं, वे तरण-तारण समर्थ हमारे रागादिक मल का हरण हमारे मन को पवित्र करे।

आगे कहते हैं कि फिर वे साधु कैसे हैं ? -

वे परम शान्त साधु धन्य है
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिः समुत्सर्पणै·,
अन्तस्तत्त्वमद· कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गता ।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने,
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान्।।२६०।।

अर्थ – अतिशयपने तप के प्रभाव से उत्पन्न ज्ञानज्योति के प्रकाश से यह निजात्मतत्त्व उसे कैसे भी प्राप्त होकर अति आनन्द को उपलब्ध हुआ है। जिनसे वन के जीवो ने भी विश्राम पाया है, हिरणी अपने चंचल नेत्रो से जिनको विश्वासपूर्वक देखती है ऐसे वे धीर योगी धन्य हैं जो अचिन्त्य चरित्रो से युक्त होकर बहुत काल वन में व्यतीत करते हैं।

भावार्थ – जो निजस्वरूप में मग्न होकर परमशान्त दशा को प्राप्त हुए हैं वे धन्य हैं। वन के जीव भी उनसे भय नही करते, वे सबको प्रिय लगते हैं।

उनकी ऐसी बुद्धि क्या करती है ? सो कहते हैं -

भेदविज्ञानी सन्तो की चरण - रज हमे पवित्र करे
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं,
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढं बहिर्व्याप्तयः,
तेषां नोऽत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोज्झिताः पांसवः।।२६१।।

अर्थ — जिनकी बुद्धि जगत् की आशा और आत्मा दोनो के मध्यगत हुई। कैसे हैं दोनो ? जिनका भेद लक्षित नही होता है, सो उन मुनियों की बुद्धि दोनों के मध्य प्राप्त हुई, भले प्रकार भेद किये बिना विश्राम नही किया उसने, भेद किया ही। कैसे हैं वे ? शान्त भाव ही है धन जिनका और बाह्य पदार्थों मे जो चित्तवृत्ति जाती थी उसे उन्होने अन्तरग मे स्थापित कर दिया, ऐसे महामुनियो के चरण-कमल की रज इस जग मे किसको पवित्र नही करती ? अपितु सबको पवित्र करती है, सो हमे भी पवित्र करे।

भावार्थ — जड़-चेतन का अनादि सम्बन्ध है। दोनो एक-से हो रहे हैं, सबको एक ही प्रतिभासित होते हैं। जो महापुरुष भेदविज्ञान से दोनो को भिन्न जानकर जड़ से ममता रहित होकर जगत् की आशा छोड़ देते हैं, उनके चरण-कमलो की रज जीवों को पवित्र करती है।

अब जो बाह्यवृत्ति का निरोध कर कर्म के फल को भोगते हैं, उनके परिणामो की विशेषता की प्रशंसा करते हैं -

सर्वारम्भ-परिग्रह-त्यागी मुनि सत्पुरुषो द्वारा वन्दनीय हैं
(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

यत् प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम्।।२६२।।

अर्थ — जीव ने पूर्वजन्म मे जो शुभ अथवा अशुभ कर्म उपार्जित किये हैं, उन्हे दैव कहा जाता है। उसकी प्रेरणा से जीव सुख-दुःख भोगता है। इन जीवो मे जो अशुभ को छोड़कर शुभ का आदर करता है, वह भी भला कहा जाता है। जो योगीश्वर शुभ और अशुभ दोनो के ही विनाश के लिए सर्व आरम्भ-परिग्रह रूप क्रूर ग्रह का त्यागी होता है, वह सत्पुरुषों द्वारा वन्दनीय है।

भावार्थ — जगत् के जीव पापों मे प्रवीण हैं। कोई जो शुभ परिणामी दिखाई देता है वह भी

भला कहा जाता है। फिर जो शुभ और अशुभ दोनो को ही छोड़कर केवल शुद्धोपयोगरूप आत्मस्वरूप मे तल्लीन हैं, उनकी महिमा कौन कह सकता है ? वे सत्पुरुषो द्वारा वन्दनीय होते हैं।

यहाँ कोई शका करता है कि जो सुख-दु.खरूप कर्मों के फल भोगता है, उसके नये पुण्य-पाप रूप कर्म बँधते होंगे। अत दोनो का नाश कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं -

कर्म न बँधे, इसका उपाय

(शिखरिणी छन्द)

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्,
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराण न हि नवं,
समास्कन्दत्येषः स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव।।२६३।।

अर्थ — सुख अथवा दु ख पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से होते हैं। सो यदि कदाचित् सुख मे प्रीति हो और दु ख मे आताप माने तो उसके नये कर्म अवश्य बँधे। जो महापुरुष (प्राप्त सुख-दु ख मे) हर्ष-विषाद न करे, किनसे प्रीति की जाए ? और किनको आतापकारी माना जाए ? ऐसे विचार से भी जो अत्यन्त उदासीन हैं, उनके पुरातन कर्म तो अवश्य खिरे (क्षय हो) और नये नही बँधें। ऐसे विवेकी महापुरुष महामणि की भाँति सदैव प्रकाशरूप ही होते हैं।

भावार्थ — कर्मों का उदय जीवो के होता ही है। इनमे जो हर्ष-विषाद करता है, उसके नये कर्म बँधते है और जो हर्ष-विषाद नही करता, उसके नये कर्म नही बँधते, पूर्व कर्म फल देकर खिर जाते हैं, यह निश्चय है।

अब पुराने कर्म की निर्जरा मे और नये कर्म के सवर मे जो कुछ होता है, सो दर्शाते है -

यति की वृत्ति अलौकिक होती है

(मालिनी छन्द)

सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन्,
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा।
पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वलः सन्,
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमि ।।२६४।।

अर्थ — जैसे अग्नि काष्ठ को सर्वथा भस्म कर उसके अभाव मे अति निर्मल प्रज्वलित होती है, वैसे ही निर्मलज्ञान देह-गेहादिक का अभाव कर, उनके अभाव मे विमल प्रकाश फैलाता है। यति का आचरण सर्वथा आश्चर्य का स्थान है।

भावार्थ — ज्ञान प्रकट होने पर घर छोड़ कर देह से भी ममत्व तजते हैं। सकल परिग्रह का त्याग कर, वीतराग अवस्था धारण कर ज्ञान ही निर्मल प्रकाश फैलाता है। मुनि की वृत्ति अलौकिक होती है। पूर्ण ज्ञान मुनि के ही होता है, गृहस्थ के अल्पज्ञान ही होता है।

आगे कहते हैं कि मुक्त और ससार दशा जीव के साधारण है। जो ज्ञानादि गुणो के नाश से मुक्ति मानते हैं, उनकी श्रद्धा का निराकरण करते हुए कहते है -

अन्य मत वालो की दृष्टि मे मुक्त जीव की दशा

(अनुष्टुप् छन्द)

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम्।।२६५।।

अर्थ — गुणी यानी आत्मा सो ज्ञानादि गुणमय है, ज्ञानादिक का नाश आत्मा का नाश है। जैसे उष्णता के अभाव मे अग्नि का अभाव हो जाता है। कोई एक (बौद्ध) दीप के अन्त होने के समान निर्वाण मानते हैं, सो निर्वाण नही है। ज्ञान की पूर्णता-वही मुक्ति है, द्रव्य सदैव गुणयुक्त होता है। गुण का नाश होने पर द्रव्य का नाश हो जाता है।[1]

आत्मा कैसा है ?

(अनुष्टुप् छन्द)

[2]अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचल प्रभुः।।२६६।।

अर्थ — आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी मरता है। जिसकी कोई मूर्ति नही अमूर्तिक है, व्यवहारनय से कर्मों का कर्त्ता है। निश्चयनय से अपने स्वभाव का कर्त्ता है। व्यवहारनय से सुख-दु ख का भोक्ता है, निश्चयनय से अपने स्वभाव का भोक्ता है। अज्ञान से इन्द्रियजनित सुखो को सुख मानता है। निश्चय से परम आनन्दमयी है, ज्ञानरूप है। व्यवहारनय से देह मात्र है, निश्चय से चेतना मात्र है। कर्ममल से रहित होकर लोकशिखर पर जाकर प्रभु हुआ अचल स्थित होता है।

भावार्थ — आत्मा केवल ज्ञानानन्दमय है। सकल उपाधियो से रहित है। परन्तु पर को अपने रूप मानकर भ्रांति से भव मे भ्रमित होता है। जब इसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है तब निरुपाधि ज्ञान रूप अविनाशी होकर स्थित होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

यहाँ कोई शंका करता है कि इन्द्रियजनित सुख के अभाव से सिद्धो को कैसे सुखी कहते हैं ? उसका समाधान करते हैं -

---

१ गुणपर्ययवद् द्रव्य। त सू ४/३८।

२ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो। भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।। २ ।। वृहद्द्रव्यसग्रह

सिद्धो का सुख

स्वाधीन्याद्दु:खमप्यासीत् सुख यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिन कथम्।।२६७।।

अर्थ – जो मुनियो के स्वाधीनपना होने से काय-क्लेशरूप दु ख को भी सुख कहा गया है तो सिद्धों को सुखी क्यों नही कहा जा सकता! वे तो सदैव स्वाधीन सुखमय ही है।

भावार्थ – तत्त्वदृष्टि से जगत् के सभी जीव दु खी हैं, उनमे सम्यग्दृष्टि मुनि ही सुखी कहे गये हैं तो सिद्ध तो केवल आनन्द रूप ही हैं।

अब ग्रन्थ के अर्थ को पूर्ण कर ग्रन्थ की आज्ञाप्रमाण चलने से प्राप्त होने-वाले फल का कथन करते हैं -

ग्रन्थकर्त्ता का उपसहार और आशीर्वचन

इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्य,
रचितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम्।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्त,
सपदि विपदपेतामाश्रयन्ते श्रिय ते।।२६८।।

अर्थ – इस प्रकार थोड़े से कुछ वचनो का आश्रय लेकर, उदारचित्त महामुनियो के चित्त के लिए रमणीक निर्दोष इस आत्मानुशासन ग्रन्थ की भले प्रकार रचना की है। जो कोई इसको पूरा पढकर निरन्तर इसका चिन्तन-मनन करेगा वह शीघ्र ही आपदा से रहित होकर अविनाशी लक्ष्मी को प्राप्त करेगा।

भावार्थ – जो जैसा चिन्तन करता है वैसा ही फल पाता है। महापुरुषो के गुणो का चिन्तन करते हुए आप ही शुद्ध होता है जैसे सुगन्धित पुष्प के योग से तिल भी सुगन्धित हो जाते हैं।

ग्रन्थ की समाप्ति पर ग्रन्थकार अपने गुरु के नाम का स्मरण करते हुए अपना नाम बतलाते हैं -

(अनुष्टुप् छन्द)

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्।।२६९।।

अर्थ – (१) जिनसेना यानी मुनिमण्डली, उसके आचार्य श्री गणधरदेव, उनके चरण-कमलो के स्मरण मे आधीन है चित्त जिनका ऐसे गुणों से भद्र यानी कल्याणरूप पूज्य पुरुष जैनाचार्य की कृति है, यह आत्मानुशासन।

(२) जिनसेनाचार्य के चरण-कमलो के स्मरण मे आधीन है चित्त जिनका ऐसे पूज्य गुणभद्र द्वारा यह आत्मानुशासन कृति रची गई है।

भावार्थ — जिनवर की सेना के आचार्य, सबमे मुख्य गणधर देव है। उनकी भक्ति मे आरूढ है चित्त जिनका, ऐसे गुणो से भद्र यानी कल्याणरूप मुनिराज जैनाचार्य, उनके द्वारा कथित यह ग्रन्थ है अथवा जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र द्वारा रचित यह ग्रन्थ है। ये दोनो अर्थ प्रमाण है।

अब कहते हैं कि श्री ऋषभदेव भगवान् आपके लिए कल्याण के कर्त्ता हो -

अन्तिम मङ्गल

(अनुष्टुप् छन्द)

ऋषभो नाभिसूनुर्यो भूयात्स भविकाय व।
यज्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते।।२७०।।

अर्थ — नाभिराजा के पुत्र ऋषभदेव तुम्हारे लिए महाकल्याण के निमित्त हों, जिनके ज्ञान रूप जल मे सकल जगत् कमलवत् भासित होता है।

।। इति आत्मानुशासन शास्त्र सम्पूर्ण ।।

श्लोकानुक्रमणिका